❀ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ❀

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः । नोत्पादयेद् यदि रतिं केवलश्रम एव हि ॥

श्रीभागवत-पत्रिका

अहैतुक्यप्रतिहता यथात्मासुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो,श्रम व्यर्थ सभी,केवल बंधनकर॥

वर्ष ७ | गौराब्द ४७५, मास—केशव २४, वार—क्षीरोदशायी शनिवार, ३० मार्गशीर्ष, सम्वत् २०१८, १७ दिसम्बर १९६१ | संख्या ६-७

श्रीगोवर्द्धनवास-प्रार्थनादशकम्

[श्रीरघुनाथदासगोस्वामि-विरचितम्]

निजपतिभुजदण्डख्यप्रभावं प्रपद्य प्रतिहतमष्टोद्दण्ड - देवेन्द्रगर्वं ।
अतुल-प्रथुल-शैलश्रेणिभूप प्रियं मे निजनिकटनिवासं देहि गोवर्द्धन त्वम् ॥१॥

प्रमद-मदन-लीलाः कन्दरे-कन्दरे ते रचयति नवयूनोर्द्वन्द्वमस्मिन्नमन्दम् ।
इति किल कलनार्थं लग्नकस्तद्द्वयोर्मे निजनिकटनिवासं देहि गोवर्द्धन त्वम् ॥२॥

अनुपम - मणिवेदोरत्न - सिंहासनोर्वी - रुहभरदरसानुद्रोणिसङ्गेषु रङ्गैः ।
सह बलसखिभिः संखेलयन् स्वप्रियं मे निजनिकटनिवासं देहि गोवर्द्धन त्वम् ॥३॥

रसनिधिनवयूनोः सार्द्धिकीं दानकेलेः श्रुतिपरिमलविद्धां श्यामकीं प्रकाश्य ।
रसिकवरकुलानां मौलिमास्फालयन्मे निजनिकटनिवासं देहि गोवर्द्धन त्वम् ॥४॥

हरिदयितमपूर्वं राधिकाकुण्डमासन्न-प्रियसखमिह कण्ठे नर्मणालिङ्ग्य गुप्तः ।
नवयुवयुगखेलास्तत्र पश्यन् रहो मे निजनिकटनिवासं देहि गोवर्द्धन त्वम् ॥५॥

स्थल-जल-तल-शम्पैर्भूरुहच्छायया च प्रतिपदमनुकालं हन्त सम्वर्द्धयन् गाः ।
त्रिजगति निजगोत्रं सार्थकं ख्यापयन्मे निजनिकटनिवासं देहि गोवर्द्धन त्वम् ॥ ६ ॥

सुरपतिकृतदीर्घद्रोहतो गोष्ठरक्षां तव नवगृहरूपस्यान्तरे कुर्वतैव ।
अघबकरिपुणोच्चैर्दत्तमान द्रुतं मे निजनिकटनिवासं देहि गोवर्द्धन त्वम् ॥ ७ ॥

गिरिनृप ! हरिदास-श्रेणीवर्येति नाममृतमिदमुदितं श्रीराधिकावक्त्रचन्द्रात् ।
व्रजनवतिलकत्वे विलसो वेदैः स्फुटं मे निजनिकटनिवासं देहि गोवर्द्धन त्वम् ॥ ८ ॥

निजजननयुतराधाकृष्णमैत्रीरसाक्त-व्रजनर-पशु-पक्षिव्रात-सौख्यैकदातः ।
अगणितकरुणत्वान्मामुरीकृत्य तान्तं निजनिकटनिवासं देहि गोवर्द्धन त्वम् ॥ ९ ॥

निरुपधिकरुणेन श्रीशचीनन्दनेन त्वयि कपटि-शठोऽपि स्वत्प्रियेणार्पितोऽस्मि ।
इति खलु मम योग्यायोग्यतां तामगृह्णन् निजनिकटनिवासं देहि गोवर्द्धन त्वम् ॥१०॥

रसददशकमस्य श्रील-गोवर्द्धनस्य क्षितिधरकुलभर्तुर्यः प्रयत्नादधीते ।
स सपदि सुखदेऽस्मिन् वासमासाद्य साक्षाच्छुभद-युगलसेवारत्नमाप्नोति तूर्णम् ॥११॥

अनुवाद—

हे गोवर्द्धन ! आप अतुलनीय अत्युन्नत शैलराजि के आधीश्वर हैं तथा आपने ही अपने स्वामी श्रीकृष्णके भुजदण्डके ऊपर छत्रभाव धारणकर अतिशय गर्विले, धृष्ट और उद्धत देवराज इन्द्रका अहंकार चूर्ण-विचूर्ण किया है। आप मुझे मेरा अभिष्ट--अपने निकट (श्रीराधाकुण्डके तीर पर) निवास-स्थान प्रदान करें ॥१॥

हे गोवर्द्धन ! व्रज-नवयुव-युगल--श्रीश्रीराधाकृष्ण आपके इन कन्दराओंमें कन्दर्पोन्मादजनित क्रीड़ासमूह का प्रचुर रूपमें अनुष्ठान कर रहे हैं; इसलिये उन दोनोंकी लीलाओंका दर्शन करनेके लिये आप मुझे अपने निकट निवास-स्थान प्रदान करें ॥२॥

हे गोवर्द्धन ! आप अनुपम मणिवेदि रूप रत्नसिंहासन, तरु, छोटे-छोटे वृक्षोंसे आच्छादित निविड़ वनभाग, गर्त्त (गढ़ा), समतल भूमि तथा कन्दराओंमें दाऊजी तथा सखाओंके साथ अपने प्रिय श्रीकृष्णको रंगके साथ क्रीड़ा करा कर मुझे अपने निकट निवास-स्थान प्रदान करें ॥३॥

हे गोवर्द्धन ! आप परम रसमय नवयुवयुगलकी दानलीलाके प्रकाशक हैं। आप कान्ति और सौरभसे युक्त श्यामवेदीको प्रकट करके अपने भक्तोंके आनन्दकी वृद्धिकर मुझे अपने निकट निवास-स्थान प्रदान करें ॥४॥

हे गोवर्द्धन ! आप जहाँ अपने प्रिय सखा और श्रीकृष्णके प्रिय परम विचित्र श्रीराधाकुण्डको आनन्दसे कण्ठदेशमें आलिङ्गनपूर्वक छिपकर नवयुवयुगलकी विविधक्रीड़ाओंका अवलोकन करते-करते अवस्थित हैं, उसी निर्जन-प्रदेशमें आप मुझे अपने निकट निवास-स्थान प्रदान करें ॥५॥

हे गोवर्द्धन ! आप सदा नाना स्थानोंमें जल, स्थल, तल, नूतन तृण एवं वृक्षोंकी छाया द्वारा गोसमूहको सम्वर्द्धित कर तीनों लोकोंमें अपना नाम अर्थात् 'गोवर्द्धन'—यह नाम यथायथ रूपमें प्रकाश करते हैं; आप मुझे अपने निकट निवास-स्थान प्रदान करें ॥६॥

हे गोवर्द्धन ! अघ और बकके शत्रु श्रीकृष्णने नवीन गृहरूपी आपके मध्यभागमें ही इन्द्रकृत दीर्घकाल व्यापी द्रोह अर्थात् वज्र-वारिवर्षणरूप उत्पीड़न से अपने गोष्ठकी रक्षा करके आपको अधिकरूपमें मान प्रदान किया है; आप मुझे अपने निकट निवास-स्थान प्रदान करें ॥७॥

हे गिरिराज गोवर्द्धन ! श्रीराधिकाके मुखचन्द्रसे आपका 'हरिदासवर्य' यह प्रसिद्ध नामरूप अमृत प्रकाशित हुआ है; आप वेदों द्वारा व्रजके नूतन तिलक-चिह्नके रूपमें स्पष्ट ही कल्पित हुए हैं । आप मुझे अपने निकट निवास-स्थान प्रदान करें ॥८॥

हे गोवर्द्धन ! अपने गणोंके साथ श्रीराधाकृष्णके मैत्रीरसमें आप्लावित व्रजके मानव, पशु और पक्षियों के एकमात्र सुखदायक हैं; आप अपार करुणावश मुझे नितान्तरूपसे अङ्गीकार कर अपने निकट निवास-स्थान प्रदान करें ॥९॥

हे गोवर्द्धन ! मैं कपटी और शठ होने पर भी आपके प्रिय अहैतुक कृपामय श्रीशचीनन्दन द्वारा आपके निकट अर्पित हुआ हूँ; केवल इसी हेतु ही मेरी प्रत्यक्ष देखी जानेवाली योग्यता या अयोग्यता पर विचार न करके आप मुझे अपने निकट निवास-स्थान प्रदान करें ॥१०॥

जो पर्वतकुलपति श्रीमद्गोवर्द्धनके रसप्रद इन दस श्लोकोंका यत्नपूर्वक पाठ करते हैं; वे तत्क्षण सुखप्रद गोवर्द्धनमें निवास प्राप्त कर साक्षात्रूपमें परमंगल प्रद श्रीराधाकृष्णके सेवारत्नको शीघ्र ही प्राप्त होते हैं ॥११॥

श्रीचैतन्य देव

वैराग्य-विद्या-निजभक्तियोग-शिक्षार्थमेकः पुरुषः पुराणः ।
श्रीकृष्णचैतन्य-शरीरधारी कृपाम्बुधिर्यस्तमहं प्रपद्ये ॥
कालानष्टं भक्तियोगं निजं यः प्रादुष्कर्त्तुं कृष्णचैतन्यनामा ।
आविर्भूतस्तस्य वादारविन्दे गाढं-गाढं लीयतां चित्तभृङ्गः ॥

—(सार्वभौम भट्टाचार्य)

अर्थात् वैराग्य, विद्या और अपनी भक्तियोगकी शिक्षा देनेके लिये श्रीकृष्णचैतन्यरूपधारी एक सनातन पुरुष – सर्वदा कृपाके समुद्रके प्रति मैं शरणागत होता हूँ ।

कालके प्रभावसे अपने भक्तियोगको नष्टप्राय देखकर जो कृष्णचैतन्य नामक पुरुष उसका पुनः प्रचार करनेके लिये आविर्भूत हुए हैं, उनके चरण-कमलोंमें मेरा चित्तभृङ्ग गाढ़रूपमें लीन हो जाय ।

श्रीमन्महाप्रभुजी संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् जब पुरीधाममें उपस्थित हुए, उस समय उत्कल नरेश श्रीप्रतापरुद्रके राजपण्डित श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यने नदीयाके सम्बन्धसे युवक संन्यासीको बड़े प्यारकी दृष्टिसे देखा । भट्टाचार्यजी उस समयके एक प्रकाण्ड विद्वान और सर्वश्रेष्ठ अद्वैतवादी थे । बड़े-बड़े अद्वैतवादी संन्यासी उनसे उपदेश श्रवण करनेके लिये आते थे । न्याय और वेदान्त दर्शनोंके वे अद्वितीय पण्डित थे । उन्होंने युवक संन्यासी श्रीचैतन्य महाप्रभुको वेदान्त दर्शनके सिद्धान्तोंका श्रवण कराकर उनके संन्यास-धर्मको दृढ़ करनेकी इच्छा प्रकट की । इस पर अमानी-मानद धर्मके प्रचारक श्रीचैतन्यदेव ने अपनी सम्मति प्रकाश की तथा सात दिनों तक लगातार सार्वभौमजीके निकट वेदान्त शास्त्रकी व्याख्या बिलकुल मौन होकर सुनते रहे । आठवें दिन सार्वभौमजीने पूछा—'आप तो बिलकुल मौन होकर श्रवण कर रहे हैं । कुछ समझ रहे हैं या नहीं ?" सार्वभौमकी बात सुनकर महाप्रभुजीने उत्तर दिया—आप वेदान्तके सूत्रोंका जो अर्थ बतला रहे हैं, उसे तो नहीं समझ पा रहा हूँ, किन्तु व्यासदेवका अभिप्राय जो इस सूत्रोंमें स्पष्टरूपसे प्रकाशित है, उसे मैं भलीभाँति समझ रहा हूँ ।'

युवक संन्यासीका उत्तर सुनकर सर्वभौम भट्टाचार्य बड़े चकित हुए । सार्वभौमजीने ब्रह्मको निरा-

कार-निर्विशेष बतलाते हुए दृश्यमान जगतको ब्रह्मका विवर्त बतलाया था; परन्तु श्रीचैतन्य देवने उस सिद्धान्तको स्वीकार नहीं किया, बल्कि शक्ति परिणामवादका विचार उनके सामने बड़ी दृढ़तासे उपस्थित किया।

विवर्त्तवाद और विभिन्न अद्वयमतवाद

'विवर्त' का तात्पर्य किसी एक वस्तुमें कोई दूसरी वस्तु होनेका भ्रम है। जैसे रज्जुमें सर्पभ्रम। इस देखे जानेवाले जगतमें इन्द्रियज ज्ञानसे जो कुछ गृहीत होता है, वह सब कुछ खण्डितरूपमें गृहीत होता है; किसी भी वस्तुके विषयमें पूर्णज्ञान नहीं होता। कारण-समूह (इन्द्रिय-समूह) असमर्थ हैं—ससीम हैं; ससीम या मानव धारणाके अतीत अति सुबृहत् या अखण्ड वस्तुका विचार मानव-ज्ञानके खण्डित विचारकी पकड़में आना संभव नहीं है। पाश्चात्य देशके मनीषिगण Agnosticism, Pantheism, Scepticism Pon en theism आदि मतवाद एवं भारतीय मनीषिवृन्द विभिन्न विचार उपस्थित किये हैं।

मतभेद और साम्प्रदायिक विवादका कारण

विभिन्न पन्थके लोक विभिन्न भावसे विषयोंका दर्शन करते हैं। मन बाह्य दृष्टवस्तुसे लब्धज्ञानकी समष्टि लेकर विचारमें प्रवृत्त होता है। हमलोग द्रष्टा होकर दृश्य जगतका अनुभव बाह्यज्ञानसे जिस प्रकार करते हैं, उसमें हमारा दृष्टिकोण (Angle of vision) परस्पर भिन्न-भिन्न होता है। कुछ लोग विवादमें और कुछ लोग आनुगत्य धर्ममें अवस्थित हैं। शेषोक्त प्रकारके लोगोंमें कुछ लोग जब तक वस्तु-ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक आनुगत्यका केवल छल प्रदर्शक करते हैं। वस्तुगत धारणाके साथ उनकी अपनी-अपनी उपलब्धिका प्रार्थक्य—इन्द्रियों-द्वारा प्रत्यक्षीकृत ज्ञानसमूह अनुमितिके साथ मिल कर जिन पृथक्-पृथक् विचारों पर प्रतिष्ठित कराते हैं, उनका पार्थक्य ही साम्प्रदायिक विवादका कारण होता है।

तर्क पथ

अपनी इन्द्रियोंकी सहायतासे किसी विचारको ठीक मानना या भूल मानना मनोराज्यके मनोधर्ममें अवस्थित है। कोई अध्यापक जब भूलसे कोई बात कह देता है, तब विभिन्न इन्द्रियोंकी सहायतासे वह बात ठीक प्रमाणित न होने पर अध्यापकके विचारोंमें भूल पायी जाती है। बाह्य ज्ञानके द्वारा प्रत्येक विषय को समझनेके लिये तर्क पथके अतिरिक्त कोई दूसरा पथ नहीं है। यह तर्क पथ खण्डितवस्तुके सम्बन्धमें सत्य होने पर भी अखण्ड वस्तुके सम्बन्धमें सत्य नहीं है। मानव खण्डित ज्ञानकी सहायतासे अखण्ड वस्तुके समीप नहीं पहुँच सकता है। विवेकी मनुष्य तर्ककी सहायतासे समझनेकी चेष्टा करते हैं। तर्क प्रश्नके रूपमें उपस्थित होने पर समझनेका सुयोग होता है। इसलिये श्रीगीताशास्त्रमें ऐसा कहा गया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

किसी विषयमें संशय होने पर उसे दूर करनेके लिये अभिज्ञ व्यक्तिके समीप उसका उत्तर सुनना पड़ता है। श्रवणके समय अन्यमनस्क होने पर अथवा वस्तुके विषयमें धारणा न कर सकने पर बार-बार जिज्ञासा करनी पड़ती है। यहाँ 'प्रणिपात' का तात्पर्य है—मनोयोगके साथ श्रवण करना। प्रश्न करके उत्तर सुननेके लिये उत्कंठित होनेसे मूर्खता, अज्ञान और भ्रान्त-धारणाएँ दूर हो जाती हैं।

अप्राकृत-तत्वके सम्बन्धमें परिप्रश्न करनेका सार्वजनीक अधिकार है—तर्कका अधिकार नहीं है।

अभिज्ञ पुरुषोंके निकट सर्व प्रकारसे परिप्रश्न करनेका सुयोग है। परन्तु 'मैं उनकी बात ग्रहण नहीं

करूँगा'—इस बुद्धिसे प्रश्न करना उचित नहीं है। इससे विषयके सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। प्रश्नका उत्तर मिलने पर उस उत्तरको काममें लगना चाहिए।

भ्रमात्मक मानवज्ञान

मानव ज्ञान वर्तमान अवस्थामें खण्डित ज्ञान है जो Misconception या अन्याय धारणाके ऊपर आधारित होता है। मानवके Concoction (उद्भावन) और इन्द्रिय ज्ञान परस्पर परिवर्द्धन और परिवर्ज्जन होने पर दृश्य जगत दूसरे रूपमें प्रतिभात होगा। दृश्य जगत्में मानव द्वारा संगृहीत ज्ञान नाना-प्रकारसे भ्रम उत्पादन करता है। खण्डित ज्ञान द्वारा अखण्ड ज्ञानका विचार संभव नहीं। मनुष्यके क्षुद्रज्ञानमें वृहत्तम वस्तु की धारणा accommodate नहीं कर सकती है। वाह्य जगत् के दर्शन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह मिथ्याज्ञान है। आंशिक ज्ञानका पूर्ण ज्ञान भी सम्पूर्ण या वास्तव ज्ञान नहीं है। Idealistic चिन्ताश्रोत केवलाद्वैतवादमें घुस गया है। इस प्रकार इन्द्रियों द्वारा दृश्य जगत्के भावनकी संशोधित अनुभूति भी मिथ्या अथवा दोषयुक्त है। दृश्य जगत्का दर्शन होनेसे चेतनकी वृत्ति बाधाप्राप्त होती है।

जगत् सत्य किन्तु नश्वर है

श्रीचैतन्य महाप्रभुजीका कथन है—जगत् नश्वर और तात्कालिक है, किन्तु साथ ही भी सत्य है। क्योंकि—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्-प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तदेव ब्रह्म।"

(तै० भृगु० १ अनु०)

दृश्यजगत् मिथ्या नहीं, खण्डित है

महाप्रभुजी Idealistic theory (प्रपंच-मिथ्यावाद) स्वीकार नहीं किये है। वे कहते हैं कि अनन्तशक्तिविशिष्ट भगवानकी वहिरंगा शक्ति द्वारा दृश्य जगतकी उत्पत्ति हुई है। दृश्य जगत् मिथ्या नहीं है, बल्कि मनोधर्ममें दिखलाई पड़ने के कारण खण्डित है। शक्ति परिणत यह Progressive world (गमनशील जगत्) भगवानकी एक प्रकारकी सृष्टि है। उदाहरण स्वरूप कहा ऐसा जा सकता है—पहले फूल, फूलमें फल, फलमें भी पहले कच्चावस्था, फिर पूर्ण-अवस्था, फिर पक्कावस्था और अन्तमें शुष्कावस्थामें परिणति। भगवान्के द्वारा सृष्ट जगत् समय द्वारा उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय विशिष्ट है। इसी शक्तिसे चालित होकर हम माता-पितासे जन्में हैं। बाह्य जगतसे हम सम्बन्धित हैं।

बाह्य जगत्के विषयोंके प्रति दौड़नेका अर्थ है, पूर्ण वस्तुकी आलोचनासे दूर हटना। फिर भी यह जगत् विभिन्नरूपोंमें दीख रहा है, लोग साधन कर भगवानकी ओर अग्रसर हो रहे हैं, इसमें श्रीगुरुदेव उपदेश कर रहे हैं, इसमें सूर्य-चन्द्र आदि प्रकाशित हैं; क्या यह सब झूठा है। जब मनुष्यकी धारणामें जगत कल्पित हुआ है, नाना रूपोंमें दिखलायी पड़ रहा है, तब जगत् कुछ नहीं है—सम्पूर्ण मिथ्या है—यह कहना असत् साम्प्रदायिकता है।

जड़ और चेतन

जड़ अर्थात् अचिद् वस्तु अनुभव नहीं कर पाती। उसमें ज्ञानशक्ति Knowing इच्छाशक्ति Willing और अनुभव शक्ति Feeling नहीं होती; वह प्रश्नोंका उत्तर भी दे नहीं सकती। हमारे भीतर पशुओंके भीतर चेतनता है, वृक्षोंके भीतर भी चेतन है। चेतन और अचेतन ये भगवान्की दो प्रकारकी शक्तियाँ हैं। एक भीतरी अङ्गोंकी शक्ति है, दूसरी बाहरी अङ्गों की। वाह्य जगत्के साथ जीव और जगत् का स्वरूपतः भेद है। परन्तु भगवान और जीवमें तत्त्वतः भेद नहीं होने पर भी परिमाणगत भेद है। भगवान् वृहद् हैं, जीव अणु है। भगवान अविमिश्र चेतन हैं। परन्तु हमारी मृत्युके समय चेतनता

लुप्त हो जाती है, बाह्य जगतका अनुभव नहीं होता, तथा उस समय सारी इन्द्रियाँ क्रियाशून्य हो जाती हैं। बाह्य जगत्में दो प्रकारके पदार्थ देखे जाते हैं—चिदाभास और जड़।

देह और देही

जीवके चेतनधर्मके साथ एक शरीर युक्त है। 'शरीर ही मैं हूँ'—श्रीचैतन्य महाप्रभुजी ऐसा नहीं कहते। उनका कहना है—इस शरीरमें आत्मबुद्धि रखना ही विवर्तका स्थान है। देह और देही भिन्न हैं। देही Proprietor (स्वामी) है, देह Property (सम्पत्ति) है। शरीर दो प्रकार हैं—स्थूल और सूक्ष्म। इन दोनों शरीरोंका ही स्वामी आत्मा है। मन चेतनाभास है और शरीर चेतनताशून्य है। इन दोनों प्रकारके शरीरोंमें हम आत्मबुद्धि रखते हैं। यही विवर्त या Misconception है।

शक्ति-परिणामवादको ही श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने स्वीकार किया है। विभिन्न श्रुतियोंके विभिन्न उक्तियोंमें संगति न बैठा सकनेके कारण अनेक लोग उनका विभिन्न प्रकारसे अर्थ करके विभिन्न पथोंमें गमन किये हैं। परन्तु भगवान श्रीचैतन्य देवने उन परस्पर विरुद्ध जैसी दिखलायी पड़नेवाली श्रुतियोंकी उक्तियोंका सामञ्जस्य किया है। जैसे एक श्रुतिमें है—"सदेव सौम्येदमग्रमासीत्"। दूसरी श्रुतिमें है—'असतः सज्जायत।' साधारणतः पहलेसे ऐसा जान पड़ता है कि पहले 'सत्' था उसीसे चराचर विश्वकी सृष्टि हुई है। और दूसरी से—'असत्' से इस दृश्य जगतकी उत्पत्ति हुई है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। जैसे दूधमें दहीका उपादान रहता है, इसलिये दूधसे दही होता है; परन्तु जलसे कभी भी दधि नहीं हो सकता है। सत्—कारणसूत्रसे, कार्यरूप असतकी उत्पत्ति कही गयी है। अपाततः उक्त दोनों मंत्रोंमें विपरीतभाव दिखलायी पड़नेपर भी वेदान्तसूत्रके अविरोध-अध्यायमें इनकी संगति दिखलायी गयी है। जिस शास्त्रमें ऐसी मीमांसाएँ हैं, उनका अध्ययन करनेसे हमारा प्रचुर कल्याण होगा।

श्रीचैतन्यदेवकी सहिष्णुताका आदर्श

श्रीचैतन्यदेव सात दिनोंतक मौन रहकर वेदान्त श्रवण कर अदृष्टपूर्व सहिष्णुताका आदर्श दिखलाये हैं। विवर्त्तवादीका अपसिद्धान्त श्रवण करनेमें ऐसा धैर्य देखकर सौर्वभौम भी आश्चर्य चकित रह गये।

सार्वभौमका पूर्व विचार और गोपीनाथ

महाप्रभुके साथ विचार करनेके पश्चात् सार्वभौम भट्टाचार्यजीने श्रीचैतन्य देवकी विद्याकी प्रतिभा आदिका दर्शन कर उनको भगवान् स्वीकार किया और उनके चरणकमलोंमें गिर पड़े। अनाथबन्धु भगवान श्रीचैतन्य देवने उनको अपनी षड्भुजमूर्त्ति का दर्शन कराकर अपनी निर्मल प्रेमभक्ति प्रदान की। ये सार्वभौम पहले अपने बहनोई गोपीनाथ आचार्य से दिल्लगीके रूपमें ऐसा कहते थे कि कोई मनुष्य क्या पर-जगतकी बात कह सकता है। चैतन्य देव तो साधारण मनुष्य हैं। इस पर गोपीनाथ उत्तरमें कहते—मानवज्ञानकी पूर्णावस्थामें ऊपर जगत्से आया हुआ व्यक्ति ही पर जगतकी बात बतला सकता है। तब सार्वभौम यह कहते—साधारण मनुष्यको लोकातीत पुरुष मानना मूढ़ताका ही परिचय है। गोपीनाथ कहते—तुम अपनी बात और अपनी धारणा दूर रख कर श्रीचैतन्यदेवके उपदेशोंका श्रवण करो और तब विचार कर देखो कि वे पर जगत्से आये हैं या नहीं।

जागतिक बुद्धि पर-जगतका विचार करनेमें असमर्थ है

हम मनुष्य कर्मफलसे देहमें आबद्ध रह कर कर्म करते हैं; पुनः मरने पर कर्मानुसार शरीर प्राप्त करते हैं—इस प्रकार हम संसार चक्रमें भ्रमण करते हैं। श्रीचैतन्यदेवके विचारोंको सुनकर सार्वभौम लोका-

तीत जगतमें उपनीत हुए। इन्द्रिय-ज्ञानसे वेदान्त शास्त्रको समझा नहीं जा सकता है। लौकिक विचार-प्रणालीद्वारा पारलौकिक वस्तु ग्रहण नहीं की जा सकती है। Transcendental (अधोक्षज) और Phenomenal (अक्षज) को एक नहीं समझना चाहिए। सूर्यका दर्शन करनेके लिये प्रदीपकी सहायताके लिये व्यस्त होनेसे मूर्खताका ही परिचय मिलता है। सूर्य में प्रचुर प्रकाश है; उसी प्रकाशसे सूर्य और दूसरी-दूसरी वस्तुओंका दर्शन होता है। जिस वस्तुका ज्ञान होनेसे सारी वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है, उसीका ज्ञान प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिए।

जागतिक ज्ञानकी असम्पूर्णता

जगत्का ज्ञान संग्रह करनेवाले मनुष्योंमें एक सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति सर आइजक न्यूटनने कहा है कि 'मैं अनन्त समुद्रके तीर पर केवल मात्र कुछ कंडे बीन रहा हूँ।' मानव ज्ञानमें संकीर्णता है, इसलिये वह असम्पूर्ण है। अतः असम्पूर्ण मानव ज्ञानके ऊपर निर्भर कर सम्पूर्ण ज्ञानको प्राप्त करनेकी चेष्टा किसी टूटे मेजके ऊपर चढ़कर आकाशको स्पर्श करनेकी चेष्टके समान है। जो Hasty Conclusion (द्रुत-सिद्धान्त) पर पहुँचते है, वे सत्य वस्तुको ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं। वे पूर्णज्ञानके अनुशीलनके लिये थोड़ा भी समय नहीं दे सकते। हमलोग बचपनसे जिस समाजमें पले है, उसमें Materialism (जड़भाव) इतना अधिक है कि नित्य जीवनकी आलोचनाके लिये हम एक क्षण भी नहीं दे सकते। व्यवहारिक कार्योंके लिये २४ घन्टा खर्च करते हैं। परन्तु मैं क्या हूँ, उसे जाननेके लिये तनिक भी चेष्टा नहीं करते। अखण्ड कालकी तुलनामें सौ वर्ष परमायुका परिमाण क्या है? अतएव मनुष्यको अपने जीवनके चौबीस घन्टोंका सदुपयोग पारलौकिक विचारोंमें करना चाहिए। बुद्धिमान मनुष्यको अपनी सौ वर्षकी आयुको इन्द्रिय सुखके लिये ही व्यतीत करना कर्त्तव्य नहीं है।

प्रत्येक व्यक्तिको अपना-अपना कल्याण अनुसंधान करना चाहिए। सबको सच्चे अर्थोंमें स्वार्थपर होना चाहिए। 'स्व' का तात्पर्य आत्मासे है। अतएव आत्माका अर्थ अर्थात् आत्मकल्याण ही यथार्थ स्वार्थ है। परन्तु संसारके अधिकांश लोग इतर कार्यों में ही व्यस्त हैं—लड़के खेलमें, युवक संसार धर्ममें बूढ़े सम्पत्ति और शरीर रक्षामें सदा व्यस्त दिखलाई पड़ते हैं; वे इन्हीं सब कार्योंको स्वार्थ समझते हैं; फलतः यथार्थ स्वार्थसे उदासीन होते हैं। स्थानीय (जागतिक) स्वार्थ संग्रहके लिये नित्यस्वार्थके प्रति उदासीन हैं—यह हमारा सबसे बड़ा दुर्भाग्य है।

"क्षेत्रे कर्म विधीयते" नीतिकी असम्पूर्णता

कुछ लोग कहते हैं कि वर्तमान स्वार्थके लिये (आत्म-कल्याणके लिये) चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। भविष्यकी बात—"क्षेत्रे कर्म विधीयते"। परन्तु यह बात ठीक नहीं है—बाल्यकालमें विद्या शिक्षा नहीं करने पर असुविधा भोग करनी पड़ती है।

सामाजिक कल्याणकामीका कर्त्तव्य

जो समाजका कल्याण चाहते हैं, उनको अपने स्वार्थके साथ ही दूसरोंके कल्याणकी चिन्ता करनी चाहिए। उनको ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे चेतनका धर्म अचेतनके द्वारा बाधित न हो जाय। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि पापकार्य छोड़ कर पुण्य करना उचित है—यह दया का कार्य है। मानव वास्तविक बुद्धिमान होने पर वह तात्कालिक कार्योंके साथ अपनी नित्य स्थितिका सम्बन्ध क्या है, इसे भली भाँति समझकर कदम-कदम पर, निद्रा, जागरण आदि सब समय विचार करेगा। ऐसा न होने पर हम परस्पर विवाद कर साम्प्रदायिक हो पड़ेंगे। सभी अपना अमङ्गल चाहते हैं—ऐसी बात नहीं है। ठीक समय पर कार्य करनेसे भविष्यमें लाभ होता है।

समय रहते समयका सदुपयोग करना कर्त्तव्य है

समयका ठीक-ठीक सदुपयोग नहीं करनेसे असुविधा होगी। बुढ़ापेमें परलोककी आलोचना करनेका अभिलाषी व्यक्ति सांसारिक चिन्ताओंसे जर्जरित रहनेके कारण कोई उपकार नहीं पाता। मैं यह नहीं कहता कि समस्त प्रकारके सांसारिक कार्यों को छोड़ कर इसी क्षण सब लोग भगवान्‌की सेवामें नियुक्त हो सकेंगे। श्री गौर सुन्दर कहते हैं—

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिल परमानन्द पूर्णामृताब्धे--
र्गोपीभर्त्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥

—न मैं ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय, न वैश्य हूँ, न शूद्र न ब्रह्मचारी हूँ, न गृहस्थी, न वानप्रस्थी, न संन्यासी, किन्तु निखिल परमानन्द परिपूर्ण अमृत सागर स्वरूप गोपीपति श्रीकृष्णके चरण कमलोंके दासोंके दासोंके दासानुदासोंके भी एक छोटासा दास हूँ, अर्थात् जीवोंका स्वरूप नित्य भगवद्दास है।

वर्णाश्रम धर्मका क्षेत्र

पांचभौतिक शरीर और आत्मा एक नहीं है। आत्मा जड़ भौतिक शरीरसे सर्वथा पृथक है। वर्णाश्रम धर्म पालनकी विशेष आवश्यकता है और ठीक-ठीक पालित होने पर इहलोक और परलोकमें सुविधा होती है। जबतक शरीर है, तब तक वर्णाश्रम धर्म की उपकारिता है। ऐहिक मङ्गलके लिये उपयोगी चौदह भुवनोंमें औपाधिक स्थितिमें इसकी उपयोगिता तो है, परन्तु नित्य जगतमें इसकी तनिक भी उपयोगिता नहीं है।

श्रीचैतन्यदेवके विचार

चैतन्यदेव कहते हैं, न मैं ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय, न वैश्य और न शूद्र हूँ मैं ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी भी नहीं हूँ। मेरा तो केवल मात्र भगवानके साथ नित्य सम्बन्ध है। मैं जहाँ भी रहूँ, उनके साथ ही मेरा सम्बन्ध है। उनको मैं कभी नहीं भूलूँ; मैं सर्वदा यह याद रखूँ कि मैं उनका नित्य-दास हूँ; ऐसा होनेसे मेरी सुविधा है। उन्होंने और भी कहा है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(भा० १।२।२१)

मनोधर्मी अचैतन्यगणके मत

सभी कहते हैं,--उस चीजको पाना है। अज्ञेयवादी कहते हैं--आवश्यकता नहीं है। सन्देहवादी कहते हैं--वे हैं या नहीं इसमें सन्देह है। परमाणुवादी कहते हैं—बाह्य जगत ही ब्रह्म है, मृत्युके पश्चात् कुछ भी नहीं है। ये लोग भगवान्‌का व्यक्तित्व (Personality) स्वीकार नहीं करते।

जीव और भगवानका स्वरूप

वास्तव सत्य यह है--स्थूल और सूक्ष्म शरीर जिसका है, वही शरीरी है। जीव मात्र ही शरीरी है। भगवान् चेतन हैं, जीव भी चेतन हैं। जीव भगवान्‌के अंश (विभिन्नांश) हैं। वर्त्तमान समय में जीव अपनी चेतनताका अपव्यवहार करके दुर्गति भोग कर रहा है। भगवानसे विमुख होना ही अपनी चेतनताका अपव्यवहार करना है। अब भगवानकी सन्मुखता ही—उनकी सेवा ही दुर्गतिसे रक्षाका उपाय है।

सार्वभौमको दिव्यज्ञानकी प्राप्ति

सार्वभौमने इन सब सिद्धान्तोंका बहुत दिनों तक श्री चैतन्यदेवके निकट श्रवण किया। इस विशुद्ध श्रवणसे सार्वभौमजीको दिव्यज्ञान की प्राप्ति हुई। श्रीचैतन्यदेवने दया करके अपनी षड्भुज मूर्त्तिका दर्शन कराया उसीके पश्चात् सार्वभौमजीने निम्नलिखित दो श्लोकोंके द्वारा प्रणाम किया—

वैराग्य-विद्या-निज-भक्तियोग-शिक्षार्थमेकः पुरुषः पुराणः ।
श्रीकृष्णचैतन्य शरीरधारी कृपाम्बुधिर्यस्तमहं प्रपद्ये ॥
कालाग्रष्टं भक्तियोगं निजं यः प्रादुष्कर्त्तुं कृष्णचैतन्यनामा ।
आविर्भूतस्तस्य पादारविन्दे गाढं-गाढं लीयतां चित्तभृङ्गः ॥

श्रीचैतन्यदेव कौन हैं ?

सार्वभौमजी कहते हैं कि मैं सब कुछ छोड़ कर वैराग्य अवलम्बन करनेके लिये प्रस्तुत हूँ । मैं श्रीचैतन्यदेवके शरणागत हूँ । अब प्रश्न यह है कि श्रीचैतन्यदेव कौन हैं ? और उनकी शरणागति ही क्या है ? क्या मैं कहीं जानेके लिये घोड़ाके शरणागत हूँ ? अथवा अपना अभाव दूर करनेके लिये अर्थके शरणागत हूँ ? क्या चैतन्यदेव कोई भोग्य वस्तु हैं ? चैतन्यदेव क्या कोई साधारण मनुष्य हैं ? अथवा प्रचारक मात्र हैं ?

श्रीचैतन्यदेव सर्वकारण-कारण हैं

श्रीचैतन्य देव केवल आजसे ५०० या ५००० वर्ष पूर्वके ही नहीं हैं। वे सनातन हैं; पुरुषोत्तम हैं; वे आदि, सर्वादि एवं सर्व कारण-कारण हैं। वे किसी कालमें उत्पन्न कालके अधीन पुरुष नहीं हैं, बल्कि भूत, भविष्य और वर्त्तमान—ये तीनों काल उनसे ही उत्पन्न हुए हैं। वे अखण्डकालसे भी अतीत हैं । वे हाड़-माँसकी थैली नहीं हैं । वे—पुराण हैं। वे परम पुरुष—कर्त्ता हैं। सर्व प्रकारसे केवल पृथ्वीकी सृष्टि करके ही नहीं—सम्पूर्ण आत्मजगतके परब्रह्म-परमात्मा एवं भगवद्वस्तु हैं। वर्त्तमान समयमें किस लिये आविर्भूत हुए हैं ? वैराग्य, विद्या और भक्तियोगकी शिक्षा प्रदान करनेके लिये पुराण पुरुष कृष्णके समुद्र श्रीचैतन्य महाप्रभु अवतीर्ण हैं। मैं उन्हींके शरणागत हूँ।

वैराग्यका तात्पर्य

वर्तमान जगतमें 'वैराग्य' शब्दका प्रयोग विपरीत भावमें किया जाता है । 'विराग' शब्दका अर्थ अधिकांश लोग Apathetic mood समझते हैं। 'वैराग्य' शब्दका वास्तविक अर्थ समझानेके लिये वे क्षुद्र प्रचारकके वेशमें नहीं आये थे । मानव जाति यह समझ न सकी । हमारी जो आसक्ति Attachment है, उसीसे Repalsion (वितृष्णा) का उदय होता है । मनुष्य जातिने वैराग्यकी जो रूप-रेखा अपने मनमें अङ्कित कर रखा है, उससे इस श्लोकमें कहा गया वैराग्य सर्वथा पृथक है । वैराग्य कहनेसे संसारी लोग ऐसा सोच सकते हैं कि अनेक प्रयत्नसे बसाया हुआ अपना संसार छोड़ देना पड़ेगा और हमारे पूज्य माता-पिता—जिनके उपकारका बदला हमने अबतक एकदम चुकाया नहीं है, उन सबको छोड़ कर जंगलका रास्ता लेना पड़ेगा । परन्तु बात ऐसी नहीं है । बाह्यतः त्याग करनेवाले भी यथार्थ त्यागी नहीं हैं। संसारके प्रति आसक्ति अथवा संसारसे वैराग्य—ये दोनों बातें ही अनावश्यक हैं । एक विलास है, तो दूसरी विलास रहितावस्था है। इन दोनोंसे हमारा कुछ भी पारलौकिक कल्याण नहीं हो सकता है । बौद्धमतानुसार खूब पेट भर कर खा लेनेके पश्चात् किसी गुफाके भीतर जाकर गुफाके द्वारपथको किसी भारी पत्थरसे बन्द कर लेना पड़ता है। कुछ दिनों के बाद भीतरवाला व्यक्ति अनाहारसे बहुत ही दुर्बल हो पड़ता है, तब उस द्वार पर रखे पत्थरको उठा नहीं सकनेके कारण बाहर नहीं आ पाता और वहीं तड़फ-तड़फ कर अपने प्राणोंको छोड़ देता है। इसे वैराग्य नहीं कहा जा सकता है—यह तो सीधा-सीधी आत्महत्या है। वैराग्य और त्याग—ये दोनों बातें भोगीसमाजके लिये बड़े आश्चर्यकी हैं। महाप्रभुजीका कहना है—जो जहाँ भी जिस अवस्थामें है, वहीं रह कर यदि वह अपनी अभिष्ट वस्तुकी प्राप्ति कर लेता है, तो उसे हिमालयमें रहकर रेचक, पूरक, कुम्भक आदि करनेकी आवश्यकता ही क्या है ? इस विषय पर विचार करना आवश्यक है। घरमें या वनमें जहाँ भी रहो, भगवान्‌का अनुशीलन करो । उनकी लीला-कथाओंकी आलोचनासे इतर विषयोंकी आसक्ति सम्पूर्णरूपसे दूर हो जायगी ।

युक्तवैराग्य और फल्गु वैराग्य

"अनासक्तस्य विषयान यथार्हमुपयुञ्जतः ।
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ॥
प्रापञ्चिकतया बुद्धया हरिसम्बन्धिवस्तुनः ।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते ॥"

विषयोंके प्रति अतिशय आसक्त होकर भगवान्‌को भूल जाना उचित नहीं है । जहाँ भी रहो, 'यह' (बाह्य वस्तु) नहीं रहनेसे चल नहीं सकता—ऐसा भाव किसी प्रकारसे भी आदरणीय नहीं है । जो जहाँ पर जिस काममें लगा है, वह वहीं उसी प्रकार रहे । आज संसारी, कल त्यागी, पुनः भोगकी फल्गु नदी हृदयमें प्रवाहित होने पर परसो फिर भोगी बनना ठीक नहीं है । वैराग्यका तात्पर्य यह है कि भगवदितर वस्तुमें आसक्त न रह कर भगवदनुशीलन में तत्पर हुआ जाय । परन्तु सावधान ! भगवदनुशीलन की आड़में कहीं प्राकृत सहजिया-गृहव्रत या फल्गु-वैरागी न हो जाओ । अपने आपकी वंचना न करो । शिक्षकको पढ़नेके विषयमें ठगनेसे स्वयं ही ठगे जाओगे।

श्रीचैतन्यदेवकी शिक्षा

'विद्या'—भगवद्वस्तु विषयक ज्ञानको विद्या कहते हैं । निर्विशेष ब्रह्ममें अथवा प्रकृतिमें लीन होने का ज्ञान यथार्थ विद्या नहीं है । विद्या-शिक्षा, वैराग्य-शिक्षा और अपने भक्तियोगकी शिक्षा देनेके लिये ही श्रीचैतन्यावतार हुआ है । कुछ लोग कर्मको और कुछ लोग ज्ञानको भक्ति बतलाये हैं; परन्तु यह बात ठीक नहीं है । श्रीकृष्णचैतन्य शरीरधारीने ही यथार्थ वैराग्य विद्या और भक्तियोगका उपदेश दिया है ।

अनर्पितचरी अमन्दोदया-दयाके समुद्र श्रीचैतन्यदेव

निजभक्तियोगका तात्पर्य अपनी प्रयोजनीय भक्ति या अपनी आत्माके भक्तियोगसे है । वे कृपाम्बुधि—दयाके सागर हैं । इतनी अधिक दया कोई भी नहीं कर सकता । भगवान्‌के किसी भी अवतारमें इतनी अधिक दयाका परिमाण नहीं है । यह दया अयोग्य व्यक्तिको योग्यता प्रदान करनेके लिये है । अनन्त कालके लिये पूर्ण दया—भगवान् अपने आपको दे देते हैं—ऐसी दया किसीने भी आजतक नहीं की है।

श्रीचैतन्यदेवकी कृपा बिना गति नहीं है

हमारा चित्त सदा विषयोंकी तरफ दौड़ता रहता है । इस चित्तवृत्तिको कृत्रिम उपायसे जोरपूर्वक खींच कर मंगलके पथ पर लानेकी अनेक चेष्टा करके विफल मनोरथ हो चुका हूँ । अतएव अब श्रीचैतन्यदेवकी कृपाके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है ।

श्रीचैतन्य-करुणामें मनुष्यमात्रका अधिकार है

श्रीचैतन्यदेवके चरणोंमें मेरा कैसा अनुराग हो ? इस पर कहते हैं—जिस प्रकार चंचल भ्रमर मधुके लोभसे एक पुष्पसे दूसरे पुष्प पर उड़ता चला जाता है, उस प्रकार नहीं । मेरा चित मधुमक्खीकी भाँति श्रीचैतन्य-चरणरूप पुष्पके मधुको पान करनेमें मत्त हो जाय । श्रीचैतन्यदेवने सब जीवोंका आलिंगन किया है । उन्होंने जो प्रेम दान किया है, उसका सौन्दर्य कर्मी, ज्ञानी और योगी—ये लोग दर्शन करनेमें असमर्थ हैं । परन्तु फिर भी कोई भी उसे प्राप्त करनेमें समर्थ है । मनुष्य मात्रका उस दयामें अधिकार है । अन्तमें मैं आपलोगोंसे एक प्रार्थना कर अपना वक्तव्य समाप्त करूँगा—

दन्ते निधाय तृणकं पदयोर्निपत्य
कृत्वा च काकुशतमेतदहं ब्रवीमि ।
हे साधवः सकलमेव विहाय दूरात्
चैतन्यचन्द्रचरणे कुरुतानुरागम् ॥

मैं आपलोगोंकी तुलनामें अत्यन्त अयोग्य होने पर भी आपलोग मुझे एक भिक्षा अवश्य देंगे । मेरी प्रार्थना यह है कि आपलोगोंके जितने प्रकारके विचार

हैं, उन सबको छोड़कर श्रीचैतन्यदेवकी वाणियोंको श्रवण करनेके लिये समय दीजिये। साधारण मनुष्य से जिनका विशेषत्व है, उनकी कथा श्रवण करनेके लिये समय देनेसे मानव-राज्यमें यथार्थ शान्तिका पथ भगवदुपासना उपस्थिति होगी। भगवानको पुत्ररूपमें पालन करनेकी प्रवृत्ति होगी। पुरुषके साथ स्त्रीके विवाह द्वारा मानव जीवनकी पूर्णता या शान्ति लाभ करनेका जो विचार उपस्थित होता है, उस जगह भगवान उपस्थित होनेसे सांसारिक आसक्ति दूर हो जायेगी। यदि हम अपने समस्त भावोंको भगवान्के चरणकमलोंमें लगा दें तभी उनकी सार्थकता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर--ये पाँच रस भगवान्में पूर्ण मात्रामें अवस्थित है। इन भावोंको भगवान्में नियुक्त करनेके बदले हमने अनित्य विषयोंमें लगा रखा है। इसीलिये हमलोग भगवान्के विषयमें जानकारी नहीं प्राप्तकर पा रहे हैं। उनका सामीप्य न पा सकनेके कारण—बालककी भाँति अपनी भलाई आप न समझ सकनेके कारण हम भगवान्के निकट पहुँच कर सर्वतोभावसे उनकी सेवा नहीं करना चाहते। यह हमारा अतीव दुर्भाग्य है। फिर भी जब फेरीवाला दीनता पूर्वक बार-बार हमारे समीप आकार आवाज लगा रहा है, तब उसकी बात एक बार क्यों नहीं सुन लेते ?

दन्ते निधाय तृणकं

भगवद् वस्तु पूर्ण ज्ञानमय हैं, आनन्दमय हैं; उनको जाननेके लिये न जाने कितने स्थानोंमें भटक रहा हूँ। परन्तु घरके समीप ही गोलोक पति मनुष्यके आकरमें विषयी लोगोंके पास भी जिस बातको सुनाने आये थे, उसे न सुनकर दूसरी बातोंमें निमग्न रहनेसे बुद्धिमान व्यक्ति हमारी प्रसंसा न करेंगे या हम भी अपनी वैसी बुद्धिकी प्रशंसा न करेंगे।

उपसंहार

वांछाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिंधुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमोनमः॥

[ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी के एक भाषणसे]

अर्थ-पंचक

श्रीमद्रामानुजाचार्यके प्रशिष्य श्रीलोकाचार्य इस ग्रन्थके रचायिता हैं। संसारी जीवोंके तत्त्वज्ञानके लिये यह अर्थ पंचक नितान्त आवश्यक है। स्वस्वरूप, परस्वरूप, पुरुषार्थ स्वरूप, उपायस्वरूप और विरोधी-स्वरूप—इन पाँच अर्थोंका ज्ञान और उनका वर्णन नीचे लिखा जा रहा है—

(क) जीवका स्वरूप—(१) नित्य, (२) मुक्ति, (३) बद्ध, (४) केवल, (५) मुमुक्षु।
(ख) ईश्वरका स्वरूप—(१) पर, (२) व्यूह, (३) विभव, (४) अन्तर्यामी, (५) अर्चावतार।
(ग) पुरुषार्थ-स्वरूप—(१) अर्थ, (२) धर्म, (३) काम, (४) आत्मानुभव, (५) भगवदनुभव।
(घ) उपायस्वरूप-(१) कर्म, (२) ज्ञान, (३) भक्ति, (४) प्रपत्ति, (५) आचार्याभिमान।
(ङ) विरोधी स्वरूप—(१) स्वरूप-विरोधी, (२) परत्व-विरोधी, (३) पुरुषार्थ-विरोधी (४) उपाय विरोधी, (५) प्राप्य विरोधी।

जीवका स्व-स्वरूप

(१) नित्यजीव—सर्वदा संसार-सम्बन्धसे रहित,

भगवदानुकूल्यमात्र भोगयुक्त, वैकुंठनाथके मन्त्रणा-योग्य ईश्वर नियोग सृष्टि, स्थिति और संहार करनेमें समर्थ, सब अवस्थाओंमें ईश्वरकी सेवामें नियुक्त विश्वक्सेन आदि अमरवृन्द।

(२) मुक्तजीव—भगवानकी कृपासे जिनका प्रकृति सम्बन्धजनित क्लेशमल दूर हो गया है, जो भगवादानन्दसे उत्फुल्ल हैं, स्तव परायण हैं, सन्तोषानन्दसे भरपुर वैकुंठमें स्थित मुनिगण मुक्तजीव हैं।

(३) बद्धजीव—पांचभौतिक अनित्य सुख-दुःख अनुभवी, आत्म-दर्शन एवं आत्म-स्पर्शनके लिये अयोग्य, अशुद्ध, अज्ञान, अन्यथा ज्ञान और विपरीत ज्ञानजनक देहमें आत्मबुद्धियुक्त, स्वदेह पोषणमें सब समय व्यस्त, वर्णाश्रमधर्मके विरुद्ध असेव्यकी सेवा, भूत हिंसा, पर-स्त्री और पर-द्रव्य अपहरण करके संसारवर्द्धक भगवद् विमुख चेतन-समूह ही बद्धजीव हैं।

(४) केवल जीव—केवल जीव अकेला। भूख-प्याससे पीड़ित होकर अन्य वस्तुके अभावमें अपने-आपको खाते-पीते हैं। योग आदि वासनार्जित कैवल्य प्राप्त जीव ही केवल जीव हैं।

(५) मुमुक्षु जीव—मुमुक्षु जीव संसार-दावाग्नि से तप्त होकर सांसारिक दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये ज्ञानद्वारा यथार्थ आत्मविवेक लाभ करके प्रकृति को दुःखाश्रय हेय-पदार्थसमूह-स्वरूप, आत्माको प्रकृतिसे परतत्त्व-स्वरूप और स्वयं प्रकाश, स्वतःसुखी, नित्य अप्राकृत स्वरूप जानते हैं। आनन्दमय परमात्मविवेक अशक्तावश प्रकृतिके अल्परसमें ही अपनेको पहले दुःखी मानते हैं। आत्म-प्राप्ति साधक ज्ञानयोग निष्ठाफल स्वरूप आत्मानुभवको ही एकमात्र पुरुषार्थ मानकर सिद्ध अप्राकृत शरीरकी प्राप्ति तक इस जगतमें वर्तमान रहते हैं। मुमुक्षु जीव दो प्रकारके होते हैं—उपासक और प्रपन्न।

ईश्वरका परस्वरूप

(१) परतत्त्व—पर शब्दसे परमेश्वरका बोध होता है। नित्य वर्तमान आदि-ज्योतिरूप पर-वासुदेव।

(२) व्यूह-तत्त्व—सृष्टि, स्थिति और संहारकर्त्ता संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध।

(३) विभव-तत्त्व—राम-कृष्ण आदि अवतार।

(४) अन्तर्यामी-तत्त्व—दो प्रकारके हैं—दासोंके अन्तःकरणमें प्रविष्ट परमात्मा और विचारवान पुरुषोंके अन्तःकरणमें सर्वाङ्ग सुन्दर लक्ष्मीजीके साथ वर्तमान परमसुन्दर नारायण।

(५) अर्च्चावतार—दासोंके अभिमत नाम और रूपविशिष्ट उपास्य मूर्त्ति। सर्वज्ञ होकर भी अज्ञप्राय; सर्वशक्तिमान होकर भी अशक्तप्राय, पूर्णकाम होकर भी सापेक्षप्राय, रक्षक होकर भी रक्षितप्राय एवं स्वयं स्वामी होकर भी भक्तके स्वामी-प्राय मन्दिरमें वर्त्तमान रहनेवाले अर्चावतार।

पुरुषार्थ-स्वरूप

(१) धर्म—प्राणी-रक्षाकी एकमात्र उपायरूप वृत्तिका नाम धर्म है।

(२) अर्थ—वर्णाश्रमके अनुरूप धन-धान्य संग्रह पूर्वक देवता-पितृ आदि कर्मों और प्राणिरक्षाके कार्यों में उत्तम देशकाल और पात्रका विचारकर धर्मबुद्धिसे व्यय करनेका नाम अर्थ है।

(३) काम—काम दो प्रकारके हैं—इहलौकिक और पारलौकिक। पितृ, मातृ, रत्न, धन, धान्य, अन्न, पानीय, दारा, पुत्र, मित्र, पशु, गृह, क्षेत्र, चन्दन, कुसुम, ताम्बुल और वस्त्र आदि पदार्थोंमें शब्द आदि विषयानुभव-जनित सुखकी कामनाको काम कहते हैं।

(४) आत्मानुभव—दुःखनिवृत्तिमात्र अनुभव को केवलात्मानुभव कहते हैं। यह एक प्रकारसे मोक्ष है।

(५) भगवदनुभव—भगवदनुभव ही परम पुरुषार्थ लक्षण मोक्षानुभव है। प्रारब्ध कर्म और पुण्य-पापके विनष्ट होने पर, अस्ति, जायते, परिणामते, वर्द्धते, अपक्षीयते, विनश्यति—तापत्रयाश्रित इन छः प्रकारके विकारोंसे रहित होनेपर भगवत स्वरूप आवरणपूर्वक विपरीत ज्ञान-उत्पादक संसार-वर्द्धक स्थूल शरीर परित्याग करके सुषुम्ना नाड़ीके द्वारा कपाल भेदकर निर्गत होकर सूक्ष्म शरीरमें अर्चिरादि मण्डल में प्रवेशपूर्वक विरजामें स्नान द्वारा सूक्ष्म शरीर और वासनारेणु दूरकर जीव समस्त प्रकारके तापोंको हरनेवाले श्रीविग्रहका कर-स्पर्श लाभ करते हैं। तब शुद्ध सत्त्व स्वरूप पञ्चोपनिषन्मय, ज्ञानानन्दजनक भगवदनुभवके योग्य तेजोमय अप्राकृत देह प्राप्त होकर किरीट युक्त अमरोंके बीच महामणि मण्डपमें भू, श्री और लीला देवीके सहित विराजमान परव्योमनाथको नित्य अनुभवपूर्वक तदीय नित्य सेवामें वर्तमान रहते हैं।

उपाय-स्वरूप

(१) कर्म—यज्ञ, दान, तप, ध्यान, सन्ध्या, वन्दना, पंचमहायज्ञादि, अग्निहोत्र, तीर्थयात्रा, पुण्यक्षेत्रवास, कृच्छ्रचान्द्रायण, पुण्यनदीमें स्नान, व्रत, चातुर्मास्य, फलमूलासन, शास्त्राभ्यास, भगवत्समाराधन, जप, तर्पण, कायशोषण और पापनाशादि कार्यों में शब्द आदि ग्रहणको कर्म कहते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिरूप अष्टांग योग भी कर्माङ्ग है।

(२) ज्ञान—आत्मतत्त्वकी आलोचनाका नाम ज्ञान है। इस ज्ञानयोगके साथी ऐश्वर्यका प्रधान स्थान है। हृदय मण्डल और आदित्य मण्डलमें विराजमान सर्वेश्वरको लक्ष्मी सहित पद्म, चक्र और गदाधारीके रूपमें अनुभव यह शेषोक्त ज्ञान भक्तियोगका सहायक है।

(३) भक्ति—तैलधाराकी भाँति अविच्छिन्न भगवत् स्मृतिरूप अनुभवको प्रीतिके रूपमें लानेकी उत्तम वृत्तिका नाम भक्ति है। भक्तिका स्वरूप यह है कि वह प्रारब्ध कर्मकी निवृत्तिके उपायरूप साध्यसाधन अनुष्ठान द्वारा आत्माका संकोच विकाश करने योग्य होती है।

(४) प्रपत्ति—भक्ति उपाय-स्वरूप होकर भगवद्विषयानुभवरूप जिस उपेय भावको उत्पन्न करती है, उसे प्रपत्ति कहते हैं। प्रपत्ति दो प्रकारकी होती है—आत्मरूप प्रपत्ति और दृप्तरूप प्रपत्ति। भगवानकी अहैतुकी कृपासे शास्त्राभ्यासके द्वारा, आचार्यके उपदेशसे ज्ञान उत्पन्न होनेपर भगवदनुभव होता है। उस समय भगवदनुभवके विपरीत देह-सम्बन्ध, देश-सम्बन्ध इत्यादि असह्य हो उठने पर श्रीवैंकटनाथकी दयाका ध्यानकर, दूसरी कोई गति न देख कर-'मैं आपका दास हूँ'—इस वाक्यके साथ श्रीवैंकटनाथके शरणागत होकर नमस्कार करके आर्ति ज्ञापन करते हुए एकान्तरूपमें अनुगत होनेका नाम आर्तरूप प्रपत्ति है। दृप्त प्रपत्ति—दृप्त प्रपन्न पुरुष स्वर्ग और नरकमें विरक्ति पूर्वक भगवत प्राप्तिकी आशामें आचार्यके उपदेशसे उपाय ग्रहणपूर्वक विपरीत प्रवृत्तिको दूर कर वेद-विहित वर्णाश्रमका अनुष्ठान वाचिक, मानसिक और कायिक भगवत् सेवाके अनुकूलमें करते हैं। ईश्वरका शेषित्व, नियन्तृत्व, स्वामित्व, शरीरीत्व, व्यापकत्व, धारकत्व, रक्षकत्व, भोक्तृत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्व, सम्पूर्णत्व, पूर्णकामत्व और अपना शेषत्व, नियाम्यत्व, स्वत्व, शरीरत्व, व्याप्यत्व, धार्यत्व, रक्षत्व, भोग्यत्व, अज्ञत्व, अशक्तत्व, अपूर्णत्व आदि ज्ञात होकर ईश्वरकी कृपाकी खोज करते हैं।

(५) आचार्याभिमान—मैं अशक्त और दीन-हीन हूँ—ऐसा समझ कर उपयुक्त भागवत आचार्य के समीप अपना दुःख निवेदन करके उनके साथ दृढ़-सम्बन्धयुक्त (गुरु-शिष्य सम्बन्ध युक्त) होकर भगवद्भजन करनेका नाम आचार्याभिमान है।

विरोधी-स्वरूप

(१) स्वरूप - विरोधी—देहात्म-अभिमान अर्थात् इस जड़देहमें आत्माभिमान, अपनेको भगवानका दास नहीं जानना और अपनी स्वतन्त्रता—ये कतिपय स्वरूप विरोधी हैं।

(२) परत्वविरोधी—भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरे देवताको परतत्त्व जानना, उनको भगवान्‌के समान समझना, क्षुद्र देवताओंके विषयमें शक्तियोग प्रतिपत्ति (शक्तिमान समझना), भगवदवतारोंको मनुष्य मानना, अर्चावतारोंमें शक्तिका अभाव मानना—ये परत्व विरोधी हैं।

(३) पुरुषार्थ विरोधी—भगवत् सेवामें अनिच्छा और भुक्ति मुक्तिरूप दूसरे-दूसरे पुरुषार्थोंकी अभिलाषा—ये दोनों पुरुषार्थ विरोधी हैं।

(४) उपाय विरोधी—इस उपायके अतिरिक्त (भक्ति या प्रपत्तिको छोड़ कर) दूसरे-दूसरे और भी उपाय हैं जिससे भगवत्प्राप्ति हो सकती है—ऐसी मान्यता, उपायके प्रति लाघव बुद्धि और उपेयतत्त्वके प्रति गौरव बुद्धि, ये तीन उपाय विरोधी हैं।

(५) प्राप्ति विरोधी—प्रारब्धकर्मोंके अनुसार प्राप्त वर्त्तमान देहके प्रति दृढ़ सम्बन्ध, अनुतापशून्य गुरुपसक्ति, भगवान्‌की अवज्ञा करना, भागवतों (भक्त और ग्रन्थ भागवत) की अवज्ञा करना तथा अन्यान्य गुरुतर 'अहित-आचरण—ये सब प्राप्ति विरोधी हैं।

इस प्रकार अर्थ-पंचकका ज्ञान उत्पन्न होने पर मुमुक्षु व्यक्ति जबतक मोक्षकी सिद्धि न हो जाय तबतक अपने वर्णाश्रम धर्मके अनुरूप जीविका निर्वाहोपयोगी पदार्थ संग्रह कर उन सबको भगवन्निवेदित कर प्रसाद ग्रहण कर जीवन धारण करेंगे। तत्त्वज्ञान को उत्पन्न कर सकें, ऐसे गुरुके समीप उपस्थित होकर उसकी आज्ञानुसार आचरण करेंगे।

ईश्वरके निकट सदा दैन्य, आचार्यके पास अपनी अज्ञता, वैष्णवोंके पास अपना पारतन्त्र्य और संसारी के प्रति उपेक्षा प्रकाश करेंगे। प्राप्यसाधनमें अध्यवसाय, विरोधी विषयोंसे भय, इतर विषयोंमें अरुचि, अपने शरीरके प्रति अरुचि और स्वरूप ज्ञानके संरक्षणमें आसक्ति रखेंगे।

श्रीमद्गौड़ीय मतके अनुसार ऐश्वर्यपूर्ण दास्यरस के विचारसे ये उपदेशसमूह ग्रहणीय हैं। ऐश्वर्य मिश्र नारायण-दास्यरस और माधुर्यमूलक कृष्णदास्य रसमें जो सूक्ष्म प्रभेद है, उसे श्रीमन्महाप्रभुके सेवक भलीभाँति ज्ञात हैं। कृष्णदास्य रसमें भी इस अर्थ-पंचक का उपदेश सामान्य भावान्तरके साथ ग्रहण करनेसे कोई दोषकी बात नहीं होगी। इस दास्यरसमें विश्रंभ भाव युक्त होने पर सख्य रस होता है। पुनः उसमें रहने युक्त होनेपर वात्सल्य रस होता है। उसी प्रकार असंकोच स्वात्म निवेदन उदित होनेपर श्रीमन्महाप्रभु द्वारा उपदिष्ट मधुर भाव होता है। अतएव श्रीरामानुजाचार्यके सिद्धान्तोंको हमारे गौड़ीय प्रेममन्दिरकी भित्तिस्वरूप जानकर हम उनको बार-बार दण्डवत प्रणाम करते हैं।

—ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर

उपनिषद्-वाणी

[छान्दोग्य–३]

[पूर्व प्रकाशित वर्ष ७, संख्या ५, पृष्ठ १०७ से आगे]

उषस्ति ऋषि खानेसे बचे हुए उड़दोंको अपनी पत्नीके लिये घर ले आये। उसको इससे पहले ही कुछ अच्छी भिक्षा मिल गयी थी। इसलिये उसने पतिके दिये उड़दोंको रख दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल उषस्तिने कहा—'यदि आज हमें थोड़ा सा भी अन्न मिल जाता तो हम कुछ धन कमा लाते। एक राजा यज्ञ करनेवाला है। वह मुझे ऋत्विजोंके सभी प्रकारके कार्योंके लिये वरण कर लेगा—मुझे ऐसी आशा है।'

पतिदेवकी बात सुनकर उनकी पत्नीने कलवाले उड़दोंको सामने रखकर कहा—'आर्य! लीजिए; कल जो उड़द आप मुझे दे गये थे, वे ही मेरे पास बचे हुए हैं। आप इन्हें खाकर यज्ञशालामें गमन करें।'

उसके पश्चात् उषस्ति उन्हें खाकर राजाकी यज्ञ-शालामें चले गये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने उद्गाता आदि ऋत्विकोंके समीप बैठकर कहा—'आपलोग जिस देवताकी स्तुति करने जा रहे हैं, उसे बिना जाने यदि आप लोग स्तुति करेंगे तो याद रखिये, आप लोगोंके मस्तक गिर जायेंगे।' ऐसा सुनकर वे सब ऋत्विक् अपने-अपने कार्यसे उपरत होकर चुप-चाप बैठ गये। यह देखकर यज्ञ कराने वाले राजाने उक्त ऋषिका परिचय पूछा। इस पर ऋषिने उत्तर दिया—'मैं चक्र ऋषिका पुत्र हूँ, मेरा नाम उषस्ति ऋषि है।' राजाने कहा—'ऋषिवर! मैंने इन समस्त ऋत्विज-सम्बन्धी कार्योंके लिये आपकी बड़ी खोज की थी। आपके न मिलने पर ही मैंने दूसरे ऋत्विकोंको वरण किया है। परन्तु अब मेरे सम्पूर्ण यज्ञका भार आप ही ग्रहण करें। उषस्तिने राजाकी बात स्वीकार करके ऋत्विकोंको यज्ञका कार्य आरम्भ करने की आज्ञा दी।

तदनन्तर प्रस्तोता उषस्ति ऋषिके पास आकर बोला—'श्रीमानने मुझसे कहा था कि तुम लोग जिस देवताकी स्तुति करने जा रहे हो, उसे उत्तम रूपसे बिना जाने यदि स्तुतिपाठ करोगे तो तुम्हारे मस्तक धड़से अलग हो जायेंगे। अतएव उक्त देवता कौन है—उसका परिचय प्रदान करें।'

उषस्तिने कहा—'वह देवता प्राण है। समस्त प्राणी प्राणसे ही सृष्टिकालमें प्रकट होते हैं और प्रलयके समय प्राणमें ही विलीन हो जाते हैं। वह प्राण ही स्तुति योग्य देवता है।

उसके पश्चात् उद्गाताने उषस्तिके पास आकर पूछा—'श्रीमानने मुझसे कहा था कि तुम उद्गीतसे सम्बन्धित देवताको बिना जाने यदि उद्गान करोगे तो तुम्हारा सिर धड़से अलग होकर गिर जायगा।' अतः अब आप कृपया बतलाइये कि वह देवता कौन है?' इस पर उषस्तिने कहा—'वह देवता सूर्य है। समस्त प्राणी आकाशमें स्थित सूर्यकी ही उपासना करते हैं।'

उसके बाद प्रतिहर्त्ताने भी उषस्तिसे यही प्रश्न किया। उषस्तिने उस देवताका नाम अन्न बतलाया; क्योंकि अन्न द्वारा ही समस्त प्राणियोंके जीवनकी रक्षा होती है।

सिद्धान्त यह है कि प्राण, सूर्य और अन्न आदि नाम परमात्माके ही नाम हैं। उन्हींकी कृपासे पदार्थों की स्थिति है।

एक समय दल्भ ऋषिके पुत्र बक अथवा मित्रके पुत्र गालव ऋषि स्वाध्याय करनेके लिये गाँवसे बाहर किसी निर्जन स्थानमें गये। उक्त ऋषि पर अनुग्रह करनेके लिये कोई छद्मवेशधारी ऋषि श्वेतरंगके कुत्ते के रूपमें वहाँ उपस्थित हुए। तत्पश्चात एक दूसरा कुत्ता भी वहाँ पहुँचा और पहले कुत्तेसे कहा—'मैं बहुत ही भूखा हूँ। आप उद्गीथका गान करके मेरे लिये कुछ अन्न प्रस्तुत करें।' इसपर श्वेतवर्णके कुत्तेने कहा—'कल प्रातः इसी स्थान पर तुम मेरे पास आना।' उनकी इस बातको सुनकर उक्त ऋषिको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। वे बड़ी उत्सुकताके साथ यह देखनेके लिये निर्दिष्ट समय की प्रतीक्षा करने लगे कि वह कुत्ता किस प्रकार अन्न जुटाता है।

दूसरे दिन प्रातःकाल वे कुत्ते वहाँ एकत्र हुए और जिस प्रकार यज्ञकर्ममें उद्गाता बहिष्यमान नामक स्तोत्र द्वारा स्तुति आरम्भ करनेके पहले एक दूसरेसे मिलकर चलते हैं, ठीक उसी प्रकार वे भी एक दूसरेसे सटकर परिभ्रमण करने लगे। तत्पश्चात् वे एक जगह बैठकर हिंकार करने लगे अर्थात् 'हिं' स्तोत्रका प्रयोगकर सामका गान करने लगे। गानका भावार्थ इस प्रकार था—

हे सबकी रक्षा करनेवाले परमेश्वर! हमलोग भोजन और जलपानके इच्छुक हैं। आप प्रकाश स्वरूप देवता हैं। आप ही अभीष्ट वस्तुकी वर्षा करनेवाले प्रजापति हैं और सबको उत्पन्न करनेवाले सविता हैं। आप हमारे लिये अन्न प्रदान कीजिये।' सामगानके समय जो हाउ आदि तेरह प्रकारके शब्दोंका प्रयोग किया जाता है, उनका नाम स्तोभ है।

यहाँ स्पष्टरूपसे कहा गया है कि प्रकाश स्वरूप सविता, वरुण प्रजापति आदि नाम-समूह परमेश्वरके ही नाम हैं। सम्पूर्ण सामको साधु और असामको असाधु कहते हैं। यदि कोई यह कहे कि मुझे 'साम' हुआ है तो इससे यह समझना चाहिए कि साधु अर्थात् शुभ हुआ है। अतएव असाम अशुभ है।

जगतमें पांच प्रकारके सामकी उपासना प्रसिद्ध है। पृथ्वी—हिंकार है, अग्नि प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष—उद्गीथ है, आदित्य—प्रतिहार है और द्युलोक—निधन है। इस प्रकार ऊपरके लोकोंमें सामदृष्टि करे। पुनः अधोगत लोकोंमें सामकी उपासनाका निरूपण किया जा रहा है—द्युलोक हिंकार है, आदित्य प्रस्ताव है, अन्तरीक्ष—उद्गीथ है, अग्नि प्रतिहार है तथा पृथ्वी निधन है। इस प्रकार जाननेवाला जो पुरुष पंच विध नामकी उपासना करता है, उसके प्रति ऊर्ध्व और अधोमुख दोनों लोक भोग्यके रूपमें उपस्थित होते हैं।

धर्मके तीन स्कन्ध हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान यह पहला स्कन्ध है। तप-दूसरा स्कन्ध है और ब्रह्मचारीका गुरुगृहमें वास करना—यह तीसरा स्कन्ध है। ये सभी पुण्यलोकके भागी होते हैं। ब्रह्ममें भलीभाँति स्थित चतुर्थाश्रमी संन्यासी अमृतत्वको प्राप्त होता है।

प्रजापति ब्रह्माने ध्यानरूप तप किया था। उससे त्रयी विद्या और भूः, भुवः और स्वः—ये अक्षर उत्पन्न हुए। फिर तपके प्रभावसे ओंकार उत्पन्न हुआ इस ओंकारमें ही समस्त वाणी व्याप्त है। ओंकार ही सब कुछ है।

ब्रह्मवादियोंका कहना है कि प्रातःसवन वसुओंका है, मध्याह्न सवन रुद्रोंका है और तीसरा अपराह्न सवन आदित्य और विश्वदेवोंका है। प्रातःसवन आरम्भ करनेसे पूर्व यजमान गार्हपत्य अग्निके पीछे उत्तरकी ओर मुख करके बैठकर वसुदेवता सम्बन्धी गान करता है। गानका भावार्थ है—हे अग्ने! आप इस लोकका द्वारा खोल दें, जिससे मैं राज्य प्राप्तिके लिये आपका दर्शन कर सकूँ। तत्पश्चात यजमान इस मंत्रसे होम करते हैं—पृथ्वी पर निवास करनेवाले अग्निदेवको नमस्कार है। आप मुझे पृथ्वीलोककी प्राप्ति करा दें। वसुगण उक्त यजमानको प्रातःसवन प्रदान करते हैं।

मध्याह्न-सवनका आरम्भ करनेसे पूर्व यजमान दक्षिणाग्निके पीछे उत्तराभिमुख बैठकर रुद्रदेव सम्बन्धी गान करता है—हे वामो ! आप अन्तरीक्ष लोकका द्वार खोल दें, जिससे कि मैं "वैराज" पद प्राप्तिके लिये आपका दर्शन कर सकूँ। तत्पश्चात यजमान इस मन्त्रसे होम करते हैं—अन्तरीक्षमें निवास करनेवाले वायुदेवको नमस्कार है। आप मुझे अन्तरीक्ष लोककी प्राप्ति करा दें। रुद्रगण यजमानको मध्याह्न-सवन प्रदान करते हैं।

तृतीय सवनका आरम्भ करनेसे पूर्व यजमान आहवनीयाग्निके पीछे उत्तराभिमुख बैठकर आदित्य और विश्वदेव सम्बन्धी सामका गान करते हैं—हे आदित्य और विश्व देव ! आप द्युलोकका द्वार खोलें, जिससे कि मैं साम्राज्य प्राप्तिके लिये आपका दर्शन कर सकूँ। स्वर्ग स्थित द्युलोक-निवासी आदित्य और विश्वदेवको नमस्कार है। मुझे अपने पुण्यलोकको प्राप्ति करा दें। आदित्य और विश्वदेव यजमानको तृतीयसवन प्रदान करते हैं।

ॐ यह आदित्य निश्चय ही देवताओंका मधु है। द्युलोक ही उसका आश्रय स्वरूप तिरछा बाँस है (जिस पर वह लटका हुआ है)। अन्तरीक्ष छत्ता है और किरणें मक्खियोंके बच्चे हैं। आदित्यकी जो पूर्वदिशाकी किरणें हैं, वे ही इस (अन्तरिक्ष छत्ते) के पूर्वदिशावर्ती छिद्र हैं। ऋक् ही मधुकर हैं, ऋग्वेद पुष्प है और साम आदि अमृत ही जल हैं। यह ऋक् रूप मधुकरोंने ही ऋग्वेदका अभिताप किया है। उससे यश, तेज इन्द्रिय, वीर्य और अन्न आदि रस उत्पन्न होते हैं। यश आदि रस आदित्यके पूर्व भागमें आश्रय लेते हैं। यही रस आदित्यमें लाल रंग है। आदित्यके दक्षिण ओरकी किरणें दक्षिणी मधुनाड़ियाँ हैं। यजुश्रुतियाँ ही मधुकर हैं, यजुर्वेद ही पुष्प है तथा सोम आदि रूप अमृत ही जल है। उन यजुःश्रुतियोंने इस यजुर्वेदका अभिताप किया। उससे यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्न यह रस उत्पन्न होता है। यह रस आदित्यके दक्षिण भागमें आश्रय लेता है। वही आदित्यका शुक्लवर्ण रूप है।

आदित्यके पश्चिम ओरकी रश्मियाँ पश्चिमीय मधुनाड़ियाँ हैं। साम श्रुतियाँ ही मधुकर हैं, सामवेद विहितकर्म ही पुष्प है, सोमादिरूप अमृत ही जल है। इन सामश्रुतियोंने ही इस सामवेद विहित कर्मोंका अभिताप किया। उससे यश-तेज आदि रस उत्पन्न होते हैं। यह रस आदित्यके पश्चिम भागको आश्रय करता है। वही रस आदित्यका कृष्ण-तेज है। आदित्यके उत्तर ओरकी रश्मियाँ उत्तरीय मधुनाड़ियाँ हैं। अथर्वाङ्गि-रस श्रुतियाँ मधुकर हैं, इतिहास-पुराण पुष्प हैं और सोम आदि अमृत ही जल हैं। यह अथर्वाङ्गिरस-श्रुतियाँ इतिहास-पुराणका अभिताप करती हैं। उसके द्वारा यश-तेज आदि रस की उत्पत्ति होती है। यह रस आदित्यके उत्तर भागमें आश्रय लेता है। आदित्यका अत्यन्त कृष्ण रूप ही यह रस है।

आदित्यके ऊपर ओरकी रश्मियाँ ऊपरी मधुनाड़िया हैं। गुह्य आदेश ही मधुकर हैं, प्रणवरूप ब्रह्म ही पुष्प है और सोम आदि अमृत ही जल है। यह गुह्य आदेश ही प्रणव-संज्ञक ब्रह्मको अभितप्त करता है। उससे यश आदि रस उत्पन्न होता है। यही रस आदित्यके ऊर्द्धभागमें आश्रय लेता है। आदित्यमें जो तत्त्व भाव है, वही मधु है। पूर्वोक्त लोहित आदि रूप ही रसोंके रस हैं और ये अमृतोंके भी अमृत हैं।

पहला अमृत अग्निप्रधान वसुओंका जीवनस्वरूप है। देवगण न तो खाते हैं, न पीते हैं, वे इस अमृतको देखकर ही तृप्त और उत्साहित होते हैं। आदित्यके पूर्व दिशामें उदय होनेसे आरम्भकर पश्चिम दिशामें अस्त होने तक वसुगणका आधिपत्य और स्वराज्य होता है।

दूसरे अमृतके द्वारा रुद्रगण इन्द्रप्रधान होकर उसके आश्रित जीवन धारण करते हैं। देवगण उसे न खाते हैं, न पीते हैं, केवल उसका दर्शन करके ही

तृप्त और उद्यमशील रहते हैं। आदित्यकी पूर्व दिशामें उदय और पश्चिम दिशामें अस्त होनेके समयसे दुगने समय तक दक्षिणसे उदित और उत्तरमें अस्तक होने के समयतक रुद्रगणको आधिपत्य और स्वराज्यकी प्राप्ति होती है।

तीसरे अमृतके द्वारा आदित्यगण वरुणप्रधान होकर उस अमृतके आश्रित होकर जीवन धारण करते हैं। देवतागण न तो उसे खाते हैं, न पीते हैं; केवल देख कर तृप्त और उदासीन रहते हैं तथा सदा तपस्यामें तत्पर रहते हैं। जो इस अमृतको जानते हैं, वे आदित्योंमेंसे कोई एक होकर वरुणकी प्रधानतामें अमृतको देख कर तृप्त होते हैं। इसी रूपमें वे उदासीन और उद्यमशील होते हैं। आदित्यके दक्षिण में उदय और उत्तममें अस्त होनेके समयके दुगने समयतक वे पश्चिममें उदय और पूर्वमें अस्त होते हैं। इतने समयतक ही उनका आधिपत्य और साम्राज्य प्राप्तिका काल है।

चतुर्थ अमृत सोमप्रधान मरुतोंके जीवनधारणका उपाय स्वरूप है। देवगण उसे न तो खाते हैं, न पीते हैं; केवल दर्शनसे ही तृप्त, उदासीन और उद्यमशील रहते हैं। जो इस अमृतको जान लेते हैं, वह मरुद्-गणोंमें से ही कोई एक होकर सोमकी प्रधानतासे ही इस अमृतको देखकर तृप्त हो जाता है। वह आदित्य जितने समयमें पश्चिममें उदित और पूर्वमें अस्त होता है, उससे दुगने समयमें उत्तरमें उदित और दक्षिणमें अस्त होता है। इतने काल तक वह मरुद्गणके ही आधिपत्य और स्वराज्यको प्राप्त होता है।

पंचम अमृत ब्रह्मप्रधान साध्यगणोंके जीवन धारणका उपाय है। वह देवताओंका भोग्य नहीं है; केवल उसके दर्शनसे ही उनको तृप्ति और उत्साह आदि प्राप्त होता है। इस अमृतका ज्ञाता साध्यगण-मेंसे कोई एक होकर ब्रह्माकी प्रधानतासे ही अमृतको देखकर तृप्त, उदासीन और उत्साहित होता है। आदित्यके उत्तरमें उदय और दक्षिणमें अस्त होनेके समयसे दुगने समय तक ऊपरकी ओर उदित और नीचेकी ओर अस्त होता है। इतने समय तक ही साध्योंके आधिपत्य और स्वराज्यका काल है।

इस मधु विज्ञानका उपदेश ब्रह्माने प्रजापतिको, प्रजापतिने मनुनको और मनुने प्रजाके निकट किया है। यह कठिनतासे समझमें आनेवाला है। सबके निकट इसका उपदेश नहीं करना चाहिये। सम्पूर्ण भूमण्डल की सारी धनसम्पत्तिके बदले भी इस विद्याका उपदेश नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह उससे भी अधिकतर फल देनेवाला है।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

नाम-महिमा

अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम॥

जिस प्रकार सूर्यदेव उदय होने मात्रसे ही सम्पूर्ण अन्धकारको नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार श्रीहरिनाम एक बार उच्चारणमात्रसे ही जीवमात्रके सम्पूर्ण पापोंको नष्ट कर देते हैं। अतएव जगतमें मंगलप्रद श्रीहरिनामकी जय हो।

श्रीभागवत-कथा

श्रीव्यास-नारद संवाद

दिन-रात कल-कल नादसे सरस्वतीका प्रवाह बह रहा है । उसके दोनों तटोंपर सघन वृक्षोंकी कतारें हैं। स्थान-स्थान पर ऋषियोंके आश्रम हैं। प्रातःकाल तपोवनमें विहंगमकुलके कलरवनाद और मुनिजनोंके मुखसे उच्चारित वेदमन्त्रोंकी सुमधुर ध्वनिसे वनस्थली मुखरित हो रही है । नवोदित अरुण अपनी किंशुकसदृश लाल-लाल किरणों द्वारा वनस्थलीमें अपूर्व सुषमाका विस्तार कर रहा है। उस परम पवित्र वनस्थित बदरिकाश्रममें भगवान् श्रीकृष्ण द्वैपायन वेदव्यासजी स्नानादिसे निवृत्त होकर एक पवित्र स्थान पर गम्भीर मुद्रामें बैठे हैं । महर्षिजी भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनोंके ज्ञाता हैं। उनकी दृष्टि अचूक है। उन्होंने देखा—भीषणकालके प्रभावसे भौतिक वस्तुओंकी शक्तिका ह्रास हो रहा है। संसारके लोग श्रद्धाहीन हो गये हैं। उनकी बुद्धि अपने कर्त्तव्योंका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाती । उनकी आयु भी क्रमशः कम होती जा रही है।

लोगोंकी इस भाग्यहीनता और गिरती हुई दशा को देखकर उनका, हृदय द्रवित हो उठा । उन्होंने मन-ही-मन कहा—मैंने समस्त वर्णों और आश्रमोंके कल्याणके लिये एक ही वेदके विषयोंके अनुसार चार विभाग किये हैं,साधारण लोगोंके निकट वेदोंका तात्पर्य सहज और बोधगम्य हो, इसके लिये पुराणोंकी रचना की है; स्त्री, शूद्र और पतित द्विजातियोंके कल्याणके लिये पंचम वेदके रूपमें महाभारतकी रचना भी की है। इन सबके अतिरिक्त संक्षेपमें ब्रह्म तत्त्वको जाननेके लिये मैंने ब्रह्मसूत्रकी रचना भी की है। मैंने निष्कपट भावसे ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंका पालन करते हुए वेद, गुरुजन और अग्निका सम्मान तथा उनकी आज्ञाका पालन भी किया है। मैं ब्रह्मतेजसे सम्पन्न और समर्थ भी हूँ। फिर भी न जाने क्यों मेरा हृदय अब भी अपूर्णकाम है ?'

इस प्रकार श्रीकृष्ण द्वैपायन वेदव्यासजी जब अपनेको अपूर्णकाम अनुभव कर खिन्न हो रहे थे, उसी समय देवर्षि नारद वीणापर भगवान्‌के सुमधुर नामोंका गान करते-करते वहाँ उपस्थित हुए। करुणावरुणालय देवर्षिका दर्शनकर श्रीव्यासदेवको अपार आनन्द हुआ । उन्होंने जल्दीसे उठकर देवर्षिका स्वागत किया और ऊँचे आसन पर बैठा कर बड़े प्रेमसे विधिपूर्वक उनका पूजन और सत्कार किया।

तदनन्तर आसन पर सुखपूर्वक बैठे हुए परम यशस्वी श्रीनारद गोस्वामीने मुसकराकर अपने समीप ही बैठे हुए ब्रह्मर्षि श्रीव्यासदेवसे पूछा—'महाभाग व्यासजी ! आपके शरीर और मन दोनों ही अपने कर्म और चिन्तनसे परितुष्ट तो हैं न । पराशर-नन्दन ! अवश्य ही आपकी जिज्ञासा तो भलीभाँति पूर्ण ही हो गयी होगी, क्योंकि आपने जो इस महाभारतकी रचना की है, वह अत्यन्त अद्भुत है और धर्म आदि चारों पुरुषार्थोंको प्रदान करनेवाला है। इसके अतिरिक्त सबसे बढ़ कर सनातन ब्रह्म-तत्त्व पर भी आपने बहुत ही गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है तथा उसे जान भी लिया है (अर्थात् आपने ब्रह्म-तत्त्वको जाननेके लिये ब्रह्मसूत्रकी भी रचना की है।) फिर भी आप अकृतार्थ पुरुषके समान शोकग्रस्त क्यों दिखलायी पड़ रहे हैं ?'

देवर्षिकी बात सुनकर श्रीव्यासदेवने कहा—'देवर्षे ! आपने मेरे सम्बन्धमें जो कुछ कहा है, वह सब ठीक ही कहा है । वैसा होने पर भी मेरा हृदय सन्तुष्ट नहीं है—इसका कारण मेरी समझमें कुछ भी

नहीं आ रहा है। महाभाग ! आपका ज्ञान अगाध है; आप साक्षात् ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं। इसलिये मैं आपसे इसका रहस्य जानना चाहता हूँ। आप समस्त गोपनीय रहस्योंके ज्ञाता हैं; क्योंकि आपने पुराण पुरुषका भजन किया है। आप सूर्यके समान तीनों लोकोंमें भ्रमण करते रहते हैं और अपने योगबलसे प्राणवायुके समान सबके हृदयकी बात जाननेवाले हैं। हे मुनिवर ! योगानुष्ठान और नियमोंके द्वारा परब्रह्म और शब्दब्रह्म दोनोंकी पूर्ण प्राप्ति कर लेने पर भी मुझमें जो कमी है, उसे आप कृपा करके बतलाईये।'

श्रीनारदजीने कहा—'व्यासजी ! आपने सब कुछ तो किया है, परन्तु अभीतक लोकपावन भगवान् श्रीकृष्णकी निर्मल लीला-कथाओंका गान विशुद्ध रूपमें नहीं किया है। मैं तो ऐसा मानता हूँ कि जिस से श्रीहरि सन्तुष्ट नहीं होते, वह शास्त्र या ज्ञान अधूरा है। आपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थ का जैसा निरूपण किया है, भगवान श्रीकृष्णकी महिमाका आपने वैसा निरूपण नहीं किया है। जो वाणी रसों और अलंकारोंसे पूर्ण तो होती है, परन्तु यदि उससे भगवान श्रीकृष्णके यशका गान नहीं होता, तो वह वाणी कौओंके लिये उच्छिष्ट फेंकनेके स्थानके समान अपवित्र मानी गयी है। मानसरोवरके कमलवनमें विचरनेवाले हंसोंकी भाँति वैकुण्ठधाममें विचरण करनेवाले भगवान्‌के चरणकमलोंके आश्रित परमहंस भक्तजन उसमें रमण नहीं करते। इसके विपरीत भगवान्‌की नाम-रूप-गुण-लीला-कथाको सूचित करनेवाली वाणी—भले ही उसकी रचना सुन्दर न हो और भले ही वह दूषित शब्दोंसे युक्त भी क्यों न हो—लोगोंके समस्त प्रकारके पापोंका नाश कर देती है। और तो क्या वह ज्ञान—जो भगवान अच्युतकी भक्तिसे रहित हो, तो उसकी शोभा नहीं होती—वह अत्यन्त हेय होता है, फिर साधन और सिद्ध दोनों ही अवस्थाओंमें अमङ्गल स्वरूप काम्यकर्म और भगवानको अर्पण नहीं किया गया निष्काम कर्म—ये कैसे शोभा पा सकते हैं ? महाभाग ! आपकी दृष्टि अमोघ है। आप सत्य परायण और दृढ़व्रत हैं। आप अखिल जीवोंके उद्धारके लिये उत्तम श्लोकोंसे युक्त श्रीकृष्णकी लीलाओंका एकाग्रचित्त से स्मरण कीजिए। जो मनुष्य भगवानकी लीलाके अतिरिक्त और कुछ कहनेकी इच्छा करता है, उससे उसको अनेकों योनियोंमें भटकना पड़ता है। जैसे हवाके झोंकोंसे डगमगाती हुई डोंगीको समुद्रके बीच में कहीं भी ठहरनेको ठिकाना नहीं मिलता, उसी प्रकार उस मनुष्यकी चंचल बुद्धि कहीं भी स्थिर नहीं हो पाती। हे महाभाग ! आपने बहुत ही उल्टा कार्य किया है। बद्ध जीव स्वभावसे ही विषयोंमें फँसे रहते हैं। धर्मके नामपर आपने उन्हें विषय भोगनेके लिये—पशु-हिंसादि निन्दित सकाम कर्म करनेकी भी आज्ञा दे दी है। लोग आपको गुरु मानते हैं और आप जिस विषयका उपदेश करते हैं, उसे ही वे लोग धर्म समझते हैं और समझेंगे। यदि दूसरा व्यक्ति ऐसा उपदेश करे तो उसे लोग धर्म नहीं मानेंगे।

अस्तु, आप उस पशु-हिंसा आदि निन्दित सकाम कर्मोंका निषेध कर सर्वसाधारणके कल्याणके लिये भगवानकी लीला-कथाओंका—विशुद्ध भक्तियोगका वर्णन कीजिये। इससे आपको अवश्य ही शान्ति मिलेगी और आपका हृदय पूर्णकाम हो जायगा। साथ ही आपके अनुगत जनोंको भी संतोष होगा। आप स्वयं विचार कीजिये, जिन वेदान्त-सूत्र, महाभारत और अन्यान्य पुराण आदि शास्त्र-ग्रन्थोंकी रचना करके भी जब आप स्वयं सन्तुष्ट नहीं हो सके तो उससे दूसरोंको भला कैसे सन्तोष हो सकता है ?

हे व्यासजी ! आप भलीभाँति जानते हैं कि अजित भगवानको केवल मात्र भक्तियोगसे ही वशमें किया जासकता है। देखिए, भक्तिका कैसा महा आश्चर्यजनक प्रभाव है कि जो मनुष्य अपने वर्णाश्रमादि धर्मोंको छोड़कर केवल श्रीकृष्णकी परम पवित्रकारी लीलाकथाओंका सेवन करता है, भगवान

श्रीकृष्ण उसको अनायास ही संसारसे मुक्त कर देते हैं। विद्वानोंने इस बातका निरूपण किया है कि मनुष्यकी तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, स्वाध्याय, ज्ञान और दानका एकमात्र प्रयोजन यही है कि पुण्य-कीर्ति श्रीकृष्णके गुणों और लीलाओंका वर्णन किया जाय।

देवर्षि नारदजीके उत्तम उपदेशोंका श्रवण करके व्यासजी बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने पुनः कहा—'भगवानकी लीला-कथामृतके भाण्डारी मुनिवर! आप कृपाकर मेरे निकट स्वयं भगवान श्रीकृष्णकी वीर्यवती लीलाकथाओंका वर्णन कीजिये, जिसका श्रवण कर मैं आपके आदेशका पालन कर सकूँ।'

देवर्षि नारदने कहा—'श्रवण-कीर्तन रूप भक्तियोगसे चित्त समाहित होनेपर साधकके हृदयमें भगवानकी लीलाएँ स्वयं स्फूरित होती हैं। दूसरी एक गूढ़ बात और बतला रहा हूँ। वह यह कि संतोंकी अपने प्रेमीभक्तोंकी सेवासे भगवान जितना शीघ्र प्रसन्न होते हैं, उतना शीघ्र किसी भी दूसरे उपाय या साधनसे नहीं होते। मुझे पूर्व जन्मकी संत-सेवासे ही उसे भगवत्कृपा प्राप्त हुई है।'

यह सुनकर श्रीव्यासदेवने कहा—'मुने! मैं आपके पूर्व जन्मका चरित्र श्रवण करना चाहता हूँ। उसे सुनानेकी कृपा करें।'

देवर्षि नारदजी बोले—'पिछले कल्पमें अपने पूर्व जीवनमें मैं वेदवादी ब्राह्मणोंकी दासीका पुत्र था। बचपनसे ही मैं बड़ा ही धीर, गम्भीर और सरल स्वभावका था। उस दासीके मेरे अतिरिक्त कोई दूसरी संतान न थी। इसलिये मुझसे बहुत ही स्नेह करती थी। एक समय कुछ योगी संतोंने वर्षा-कालमें एक जगह चातुर्मास्य किया। उस समय मेरी अवस्था लगभग पाँच वर्षकी थी। मेरी माता उन साधुओंकी सेवामें लगी रहती थी। मैं भी, यद्यपि उस समय बहुत ही छोटा था, तथापि सब प्रकारकी बालोचित चंचलता और खेलोंको छोड़कर उन साधुओंकी सेवामें लगा रहता था। वे संत भी मुझे सरल, विनयी और सेवापरायण जानकर मुझपर बड़ी कृपा करते थे। मैं दिनमें एकबार उन संतोंके बर्तनोंमें लगा हुआ जूठा अन्न खा लिया करता था; जिसका थोड़े ही दिनोंमें यह आश्चर्यजनक फल हुआ कि मेरे हृदयका सारा कल्मष दूर हो गया। मेरा चित्त शुद्ध हो गया। संतोंके मुखसे विगलित हरि-कथामें मेरी रुचि हो गयी।

चातुर्मास्य व्रत समाप्त होनेपर जब वे संत उस स्थानसे जाने लगे, तब उन संतोंने कृपाकर मुझे भगवानके स्वरूपका ध्यान और नाम-जपके उपदेश दिये। साधुओंके चले जानेपर उनके प्रदर्शित साधन-पथ पर मैं दृढ़ निष्ठाके साथ चलना चाहता था। परन्तु माताका सांसारिक स्नेह उसमें बाधक बन रहा था। भगवत् कृपासे कुछ ही दिनोंके पश्चात् माँको एक साँपने काट खाया, जिससे उसकी मृत्यु हो गयी। माताका स्नेह भी एक बन्धन था, जिसे प्रभुने दूर कर दिया। उस थोड़ी सी अवस्थामें भी, जबकि मुझे न तो देशका पता था, न कालका, भगवानके भरोसे ठीक उत्तरकी ओर बनके मार्गसे चल पड़ा। बहुत दूर जानेपर एक बहुत ही घने बनमें एक सरोवर दिखाई पड़ा। उस समय तक मैं बहुत ही थक गया था। साथ ही बड़े जोरोंकी प्यास भी लगी थी। स्थान बड़ा ही रमणीक और बिल्कुल निर्जन था। मैं उसी सरोवरमें जलपान कर उसके किनारे पीपलके पेड़के नीचे बैठकर संतोंकी बतलायी हुई विधिके अनुसार भगवानका ध्यान करने लगा। ध्यान करते समय क्षणभरके लिये अकस्मात मेरे हृदयमें भगवान आविर्भूत हो गये। परन्तु वह दिव्य झाँकी दूसरे क्षण न मिली। व्याकुल होकर बार-बार प्रयत्न किया; परन्तु फिर दर्शन न मिला, मैं बहुत ही व्याकुल होकर रोने लगा।

मेरी वैसी व्याकुलता देख कर आकाशवाणी हुई—'इस जन्ममें मेरा और दर्शन न होगा। जिसकी वासनाएँ पूर्णतया शान्त नहीं हो गयी है, वे मेरे दर्शनके अधिकारी नहीं हैं। तुम्हारे हृदयमें मुझे प्राप्त करनेकी लालसा जाग्रत करनेके लिये ही मैंने एक बार तुम्हें अपने रूपकी झलक दिखलायी है। तुम इसी प्रकार लगनसे मेरा भजन करते रहो। समय आने पर तुम इस प्राकृत मलीन शरीरको छोड़ कर मेरे पार्षद बन जाओगे।'

आकाशवाणीके शान्त होने पर मैंने भगवान्‌को सिर झुका कर प्रणाम किया और भगवान्‌का गुण गाता हुआ पृथ्वी पर विचरण करने लगा। इस प्रकार भगवान्‌की कृपासे मेरा हृदय शुद्ध हो गया, आसक्ति सम्पूर्ण रूपसे मिट गयी और मैं कृष्णपरायण हो गया। समय आने पर मेरी मृत्यु उपस्थित हुई। पांचभौतिक शरीरके नष्ट होनेके साथ-ही-साथ पार्षद शरीर उदित हुआ। कल्पके अन्तमें मैं एकार्णवके जलमें शयन करनेवाले भगवान्‌के शरीरमें प्रवेश कर गया। फिर एक सहस्र चतुर्युगी बीतने पर मरीचि आदि ऋषियोंके साथ मैं भी ब्रह्माके मानस पुत्ररूपमें प्रकट हुआ। तभीसे मैं भगवान्‌की कृपासे वैकुण्ठ आदिमें और तीनों लोकोंमें सर्वत्र ही विना रोक-टोक विचरण किया करता हूँ।'

ऐसा कह कर देवर्षि नारद व्यासजीसे अनुमति लेकर वीणा पर हरिगुणगान करते हुए स्वच्छन्द विचरणके लिये चल पड़े।

—श्रीहरिकृपादास ब्रह्मचारी, 'भक्तिशास्त्री'

आधुनिक आर्य

आधुनिक युगमें वैज्ञानिक साधनोंके साथ जैसे-जैसे नवीन भावोंकी वृद्धि हो रही है, वैसे-वैसे ही मनुष्य आत्मस्वरूप या जीव स्वरूपको भूलता जारहा है। उससे संस्कृति, भारतीय सभ्यता, सदाचार, श्रद्धा विश्वास, भक्ति विदा ले रही है। अब वह ऋषियों एवं आचार्यों द्वारा निर्मित सरल सुगम मार्गपर चलना ठीक नहीं मानता। अपनी अनुभव-शक्ति और ज्ञान-शक्तिका उपयोग अध्यात्मवादकी ओर न कर भौतिकवादकी ओर कर रहा है। सन्तों, भक्तों और आचार्योंकी प्रेरणाओं, उपदेशोंको सारहीन समझ कर या तो सुनता ही नहीं, यदि परिहासके रूपमें सुनता भी है तो अहं भाव या भौतिक वासनाओंसे भ्रमित हो उन्हें कुतर्ककी कसौटीपर कसता है। वह प्राचीन जीवन और संस्कारोंको असभ्यरूपमें तथा अविकसित रू में समझता है। उसे पश्चिमीय या आसुरी आपात् रमणीय भोग-विलास पूर्ण जीवन अच्छा लगता है। उसकी बुद्धि पश्चिमीय भौतिक मार्गकी ओर बढ़नेको इच्छुक हो रही है, उस ओर ही उसे जीवनसुख, कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान, सभ्यताका उदित सूर्य दीख रहा है। वहाँके मायिक प्रकाशको सत्य प्रकाश समझ रहा है। उस ओर ही आश्चर्य चकित हो दौड़ना चाहता है। उन्हें ही सर्वज्ञ ईश्वर मान कर उनके प्रति श्रद्धा-विश्वास करने लगा है। उन्हींकी पूजा करना चाहता है। उन्हीं पर श्रद्धाके फूल चढ़ानेको लालायित है। उनका अनुगामी होना चाहता है। उनके विकासको सत्य विकास मानता है। उनके वेष-भूषा व्यवहारको सुन्दर समझ आकृष्ट हो रहा है, उनकी सभ्यताका आदर करता है। उस रूपमें ही अपने जीवनको ढालनेमें अपना सौभाग्य समझता है। उसीका परिणाम है कि आज मानव भौतिक साधन सम्पन्न होने पर भी अशान्त है और राक्षसी वृत्तियोंसे परिपूर्ण होता जारहा है। उसमें विकासके

साथ ही आसुरी भाव बढ़ रहे हैं । अपने स्वार्थके पीछे वह अपने परिवार, समाज, देश, राष्ट्र—सभी को चबाकर महान् बनना चाहता है । अब उसने अपना मुख मोड़ लिया है ; वह अन्तर्मुखीसे बहिर्मुखी हो रहा है । सन्त, शास्त्र, भक्त, आचार्य उसे बार बार पुकारकर मुड़नेको कह रहे हैं, पर वह न तो सुनता है, न पीछेकी ओर देखता है । उसने कदम जो बढ़ा लिया है । फिर भी सन्तोंको, भक्तोंको विश्वास है कि वह निश्चय ही भारतीय ज्ञान-विज्ञान कलाकौशलके प्रकाशमें आयेगा, यहाँका ज्ञान-भण्डार युगों-युगोंसे खुला है और सदैव खुला रहेगा । तभी तो मनु महाराजने कहा है—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशात् अग्रज मनः ।
स्वंस्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

परन्तु अविद्या या अज्ञान उसे उस ओर ले जा रहा है । यहाँकी अमूल्य रत्न राशिको छोड़कर दीन हीन हो अन्न, वस्त्र, धन, बुद्धि, राज्य-नीति, शान्ति एकता, प्रगति, एवं शिक्षाकी झोली पसारकर भीख माँगने को प्रस्तुत है । वह मान रहा है, हम सभ्य, विकास-शील, वैज्ञानिक, उच्च नेता और ज्ञानी बन रहे हैं । अब हम ऐसी शक्तिसे ईश्वरको भुला देंगे, जाति धर्म समाज सब कुछ बदल डालेंगे, प्राचीन कथाओंकी समाप्तिकर नवीन कथाओंका सृजन करेंगे और अविकसित मानवसे विकसित मानव का रूप लेंगे हमारा उपदेश सत्य उपदेश होगा, हमारा ज्ञान सत्यज्ञान रहेगा । परन्तु विवेकशील, सन्त महात्मा आचार्य सोचते हैं, यह प्रलाप है । भौतिक मदिराके पानमें उन्मत्त होकर बोल रहा है या उत्पथ मार्गकी ओर जा रहा है; अन्तमें लौटना उसे यहाँ ही है । क्योंकि यहाँ का ज्ञान-विज्ञान आपात रमणीय नहीं, यहाँका सुख कृत्रिम सुख नहीं, यहाँ कुछ ऐसा रसायन है या अमृत है, जिसे पानकर अमर हो जाता है, तथा सर्व सिद्धियोंसे पूर्ण । वस्तुतः स्व-स्वरूपको धारण कर लेता है । सब प्रकारसे कृतार्थ हो जाता है । फिर उसे कुछ प्राप्त करने योग्य नहीं रहता ।

किसी भी देशका ऐसा विज्ञान नहीं है जो मानव का संस्कार करता हो । भारतीय विज्ञान ही एक ऐसा विज्ञान है जो आरम्भसे मानवका संस्कार करता है । जिस प्रकार संसारकी विभिन्न वस्तुएँ संस्कारितकी जानेपर ही सुन्दर और उपयोगी होती हैं उसी प्रकार संस्कार ही मानवको परिवार, समाज, देश, और राष्ट्र सबके लिये उसे हितकर बनाता है । संस्कृत शरीर ही मनको उच्च भावापन्न बनाता है । उसके अज्ञानान्धकार को दूरकर आत्म-साक्षात्कार और भगवत्-साक्षात्कार कराता है ।

भारतीय विज्ञानमें षोडश संस्कार निहित हैं । जिनके नाम निम्नलिखित हैं—

गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोनयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्रासन, चूड़ाकर्म, यज्ञोपवीत, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, गार्हपत्य, वानप्रस्थ, संन्यास और अन्त्येष्टि । उपर्युक्त संस्कारोंमें आदिके तीन संस्कार गर्भशुद्धि, गर्भवृद्धिके लिये किये जाते थे । पश्चात्के चार संस्कार बालकके प्रारम्भिक जीवनके संस्कार होते थे । चूड़ाकर्ममें गर्भावस्थाके केशोंका कर्तनकर दिया जाता था । यज्ञोपवीतसे लेकर बालकके विकासके संस्कार माने जाते थे । उसे उपनयन या व्रतबन्ध भी कहते हैं । उसी संस्कारके द्वारा बालक ब्रह्मचर्य्य व्रतधारण करके वेदाभ्यासका अधिकारी होता था । इस संस्कारसे संस्कृत बालक अध्ययनके लिये गुरुकुल भेजा जाता था । वहाँ वह ब्रह्मचर्य्य व्रतकी साधना करता हुआ विद्याध्ययन कर महान् ज्ञानी, लोकोपकारी, देशसेवक बनता था । ब्रह्मचर्य्य स्वतन्त्र रूपसे प्रथम एक आश्रम भी है । यह आश्रम विद्याध्ययनके लिये तथा चरित्र निर्माणके लिये अधिक महत्वशाली था । ब्रह्मचर्य्यके सम्बन्धमें लिखा है—

"ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युं उपाघ्नत"

आयुर्वेद शास्त्रमें ब्रह्मचर्य्यके लिये निम्नलिखित पंक्तियाँ है—

'आहारस्य परंधाम शुक्रं तद् द्रव्यमात्मनः ।
क्षये यस्य बहून् रोगान् मरणं वाधिगच्छति ॥'

अतः ब्रह्मचारीको वीर्यकी रक्षा करना अत्यावश्यक है।

'ब्रह्मचर्य्य प्रतिष्ठायां वीर्य लाभः'
(योगसूत्र)

ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण न करनेसे—

आयुः तेजो बलं वीर्यं प्रज्ञाश्रीश्चमहद्यशः।
पुण्यं सुप्रीतिमत्वं च हन्यतेऽब्रह्मचर्य्यया॥

इसीसे ब्रह्मचारी गुरुकुलमें निवासकर निम्न व्रतोंका पालन करता था और ब्रह्मचर्य्यमें हानिकारक वस्तुओंका परित्याग करता था—

वर्जयेन्मधुमांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥
अभ्यङ्ग मंजनं चाक्ष्णोः रुपानच्छत्र धारणम्।
कामंक्रोधंचलोभंच नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणा लम्भमुपघातं परस्य च॥
(मनु०)

इस प्रकार ब्रह्मचर्य्यावस्थाके समुचित साधन करते हुए ही वह वेदाध्ययन और जीवनोपयोगी सभी शास्त्रोंका अध्ययन करता था। इसे वेदारम्भ संस्कार कहते हैं। यह १० वां संस्कार है। इसके अनन्तर पूर्ण अध्ययनकी समाप्ति पर जब उसको स्नातक की पदवी दी जाती थी, उस समय जो धार्मिक क्रिया होती थी, उसीको समावर्तन-संस्कार कहते हैं। यह ११ वां संस्कार है। समावर्तन होनेपर आचार्यकी स्वीकृति प्राप्तकर यदि कामके अंकुर होते थे तो वह सुयोग्या सुलक्षणी कन्यासे विवाह करनेके लिये अग्रसर होता था या विवाह न कर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्यका पालनकर गुरुके आश्रममें ही निवास करता था तथा तपस्याका साधन कर लोकोपकार करता था।

विवाह संस्कार भी ब्रह्मचर्य्याश्रमके बादका एक दूसरा आश्रम है। इसमें व्रत कार्य निर्दिष्ट थे उनका पालन पति-पत्नी पूर्ण सतर्कतासे करते थे।

इसीके द्वारा सद्भावनाओंका प्रसार होता था, अच्छे नागरिकोंका निर्माण होता था। देशके सभी आश्रमोंको पोषण मिलता था। अतिथि-सेवा, देश-सेवा होती थी, जिससे देशका, समाजका हित होता था।

यथा नदी नदाःसर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥

स्त्रियोंके प्रति पुरुषोंका व्यवहार बहुत अच्छा होता था। उसे प्रत्येक धार्मिक सामाजिक कार्यमें साथ रक्खा जाता था। मानव समाज उसे आदर की दृष्टिसे देखता था। क्योंकि वह जानता था—

यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
यत्रैस्ता तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाक्रिया॥

स्त्रियां अपने कार्योंमें प्रवीण थीं। वह न तो पतिके प्रतिकूल चलती थीं, न अपनेमें दूषणोंका संग्रह होने देती थी। सदा प्रसन्न रहती थीं। साथ ही धर्म परायणा भी होती थी—

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्ययेचामुक्त हस्तया॥
पानं दुर्जनसंसर्ग पत्याच विरहोऽटनम्।
स्वप्नोन्यगेह वासश्च नारीणां दूषणानिषट्॥
(मनु०)

गृहस्थ परिवार विशेष रूपसे अपने साधारण कर्तव्यको कभी नहीं भूलता था। वह धैर्य, क्षमा रखता था। विषयोंमें नहीं फँसता था। दूसरेकी वस्तु को मिट्टीके ढेलेके समान समझता था। भीतर-बाहर से स्वच्छ रहता था। इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकता था वह विवेकशील, विद्वान्, सत्यवादी और क्रोध न करनेवाला होता था।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

इनके अतिरिक्त प्रति दिन वह ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ और पितृयज्ञ करता था।

ऋषियज्ञके अन्तर्गत स्वाध्याय एवं संध्या-वंदन आते हैं। स्वाध्यायके दो रूप हैं, प्रथममें प्रातःकाल और सायंकाल प्रतिदिन धार्मिक ग्रन्थोंका पठन-पाठन, मनन व द्वितीयमें मनुष्य स्वयं प्रातः-सायं अपना अध्ययन कर अपने सद्गुणोंका मनन चिन्तन करता था। दूसरा रूप संध्योपासनका है। यह भी प्रातः मध्याह्न सायंकालमें किया जाता है। इसमें प्राणायाम की व गायत्री जपकी मुख्यता है, इससे मनुष्यके दोष दूर होते थे, जैसे धातुओंको तपानेसे उनका मैल दूर होता है।

देवयज्ञ अग्निहोत्र है, जो वेद मन्त्रोंसे किया जाता है। इससे वायु शुद्ध होती थी तथा रोगोंका नाश होता था।

भूतयज्ञ भोजनके पहले किया जाता था। पहले कुछ आहुतियाँ अग्निमें छोड़ी जाती थीं; फिर कुत्तों, रोगी, बूढ़ी, पापी, पशु, पक्षी, कीट पतङ्गोंको भोजन का भाग देकर सन्तुष्ट किया जाता था।

नृयज्ञमें अतिथि-सेवा, साधु, महात्मा, सज्जनों को भोजन वस्त्र दक्षिणासे संतुष्ट किया जाता था। उनके सत्संगसे लाभ प्राप्त करते थे। पितृयज्ञमें गुरुजनों की, पिताकी नित्य सेवा-सुश्रूषा करना परमकर्तव्य माना जाता था।

गृहस्थोंके जीवनमें आचारकी बड़ी महत्ता थी। वे स्वयं सदाचरण करते थे और दूसरेका हित तथा संसारका उपकार करते थे; क्योंकि वह समझते थे—

दुराचारोहि पुरुषो लोके भवतिनिन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥

वह अपना व्यवहार—

मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणां सुख दुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसाधनम् ।

सभी मनुष्योंका जीवन यज्ञमय था; क्योंकि शास्त्रोंमें यज्ञसे ही मनुष्यकी उत्पत्ति मानी है और यज्ञमें ही उसकी अन्त्येष्टि होती है। यज्ञका अर्थ जितनी पूर्णताके साथ आर्यजातिने जाना है, वैसा किसीने नहीं। उपनिषदोंमें, वेदोंमें यज्ञका विस्तारसे वर्णन है। भगवद्गीतामें भी यज्ञके सम्बन्धमें निर्देश है।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञात् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।
(गी०)

गृहस्थ सदैव सात्विकदान करते थे—

दातव्यमिति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥

वे तामस और राजस दानमें रुचि नहीं रखते थे। उनका जीवन तपस्वी जीवन था, शारीरिक तप उनका व्रत था।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥

वे वाङ्मय तप एवं मानस तपके अभ्यासी थे—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्म विनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येत्तपो मानसमुच्यते ॥

गृहस्थोंका जीवन परोपकार निरत होता था। वे दीन दुखियोंके प्रति सदैव उपकारी रहते थे। अहिंसा का पालन करते थे। मनसे वाणीसे शरीरसे कभी किसी प्रकारकी हिंसा नहीं करते थे क्योंकि उन्हें यह स्मरण था कि जिस प्रकार हमें अपने प्राण प्रिय हैं उसी प्रकार अन्य प्राणीको भी अपने प्राण प्यारे हैं।

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रय विक्रयी ।
संस्करता चोपहर्ता च खादकश्चेतिघातकाः ॥
(मनु०)

ये आठों ही घातकी माने गये हैं। केवल हिंसा करनेवाले ही या खानेवाले ही नहीं। गोरक्षा तो उनका मूलधर्म था। भारतकी प्राचीन समृद्धि गौपर ही आधारित थी। प्रत्येक गृहस्थका घर गौमातासे पवित्र था।

गावो लक्ष्म्या सदामूलं गोपुरीषा न विद्यते ।
गावो यज्ञस्य नेत्र्यो वै तथा यज्ञस्यतः मुखम् ॥

सतत् ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर अपने दैनिक कार्यके सम्बन्धमें विचार करते थे, धर्म अर्थका चिन्तन करते थे।

ब्राह्मं मुहूर्त बुद्धचेत धर्मार्थौचानुचिनायेत् ।
कायक्लेशांश्चतन्मूलान् वेदशास्त्रार्थमेव च ॥

उनका भोजन सादा और सात्विक होता था, वे तामसी और राजसी भोजन करना ठीक नहीं समझते थे। क्योंकि उससे मलिनता—मानसिक विकार आये बिना नहीं रहते। सात्विक भोजनका निर्देश गीता में इस प्रकार है।

आयुःसत्वबलारोग्य सुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः ॥

इस प्रकार वे सभी सद्गुणसम्पन्न होकर सात्विक जीवन यापन करते थे। अथिति-सत्कार, गुरु-सेवा, ईश्वर-भक्ति उनका ध्येय था।

गार्हपत्य संस्कार भी गृहस्थाश्रमके अन्तर्गत ही मानव किया करते थे। वह धार्मिक विधिसे अपने गृहमें अग्निकी स्थापना करता था और तभीसे धार्मिक सारे कृत्य अपनी पत्नीके साथ करता रहता था।

गार्हपत्यके पश्चात् वानप्रस्थ संस्कार है। यह तृतीय आश्रम भी है। इसमें गृहस्थ धर्मका पालन करते हुए जब मनुष्य आयुके तीसरे भागमें धर्म मोक्षकी साधनाके लिए वनमें जाता था, उस समय यह संस्कार होता था। वहाँ वह जितेन्द्रि होकर लोकोपकार करता हुआ कन्दमूल फल आदिका भक्षण कर रहता था।

फिर आयुके चतुर्थ भागमें संन्यास ग्रहण करता था। ईश्वर-भक्तिका साधन करते हुए मोक्ष मार्गमें प्रवृत्त होता था। वह सब प्राणियों पर समदृष्टि रखता था। जनहितको अपना एकमात्र उद्देश्य मानता था। उस समय जो विधि या संस्कार होता था, उसे संन्यास संस्कार कहते थे।

अन्त्येष्टि, यह अन्तिम संस्कार है जो मनुष्योंकी मृत्यु होनेपर किया जाता है। यह अन्तिम यज्ञ है। इसमें शवका वैदिक विधिसे हवन किया जाता था। इसीसे इसे अन्त्येष्टि कहते हैं।

इस प्रकारसे संस्कारित मानव देशका बड़ा उपकारी सिद्ध होता था और भारतवर्ष आध्यात्मिकता के कारण ही सर्वश्रेष्ठमाना जाता था। भारतीय खान से संस्कारित होकर सत्ययुगसे लेकर आजतक कितने अमूल्य मानव रत्न निकले हैं, जिनकी गणना करना असंभव है। परन्तु आजका जैसा विकृतरूप कदापि दृष्टि पथमें नहीं आया।

आजका मानव असंस्कृत होनेके कारण किस रूपका बन चुका है यह सभी जानते हैं। बाल अवस्था से ही वह असंस्कारी होकर बढ़ता है। उसमें न आदर भावना होती है, न सदाचार पालनकी साधना, न त्याग तपस्या विद्या ग्रहणकी मनोवृत्ति। प्रारम्भसे ही वह उत्पथगामी होकर दुर्व्यसनी, माता-पिता, देश-समाजका घातक होने लगता है।

प्राचीन विद्यालयोंकी भाँति न एक भी विद्यालय दृष्टि पथमें आता है, न उनमें भारतीय पद्धतिसे

अध्यापना होती है। न वहाँ ब्रह्मचर्य पालन है, न गुरुके प्रति आदरभावना। विद्यालय के छात्र जूते पहन कर अध्ययन करते हैं, पशुओंकी भाँति खड़े होकर मूत्र त्याग करते हैं। अभक्ष्यभक्ष्यकी तो कोई सीमा ही नहीं। सभी प्रकारके शृङ्गार कर वह अपनेको रोचक बनानेका इच्छुक है। अपनी बहिनोंके प्रति असद् व्यवहार, द्यूतक्रीड़ा, असत्यभाषण, चोरी, अश्लील चित्रोंका निरीक्षण, वीर्यत्याग, उत्तेजक पदार्थोंका पशुओंकी भाँति मार्गमें चलते-चलते ही भक्षण, पूज्योंका अपमान, अपेयपान करते रहते हैं। यहाँकी बालिकाएँ भी अपने साज-शृङ्गार और अङ्ग प्रदर्शनकर तितलियोंकी भाँति अपनी रूप-सज्जाका प्रदर्शन करने में पीछे नहीं रहतीं। उन्होंने भी पश्चिमीय आदर्श वेष-भूषाको अपना लिया है। गन्दे गीत उनका ईश्वर स्मरण हो गया है।

इसीसे बालक या बालिकाएँ क्षीण-शक्ति, क्षीण-वीर्य, क्षीणबुद्धि, कामी, क्रोधी, आलसी, निकम्मी होती जा रही हैं। अल्पायुमें ही मृत्युके ग्रास बनते हैं। ये न देश, न समाजके, न राष्ट्रके हितकर सिद्ध होंगे। केवल येन-केन-प्रकारेण जीवन बिता सकेंगे। अब वे पूर्ण अविद्याकी खान बन चुके हैं। स्कूलीय शिक्षाओंमेंसे धीरे सदाचारकी शिक्षा समाप्त हो चुकी है।

ब्रह्मचर्याश्रमके पश्चात्की स्थिति और भी सोचनीय बन चुकी है। मनुष्य पारमार्थिक तत्वों से दूर होकर प्रातः कालसे ही गीता, भागवत् आदि स्वाध्यायके स्थान पर अखबार बाँचना, चरणामृत ग्रहणके स्थान पर चायपान, भागवत् सेवाका परित्याग कर उपानह-मार्जन साइकल-सेवा करता है। उसने अपना पेट पालनके लिये भटकते फिरना और किसी प्रकारसे आपकी गृहस्थीको जीवित रख लेना ही इतिकर्तव्यता समझ लिया है। उसके पास मन्दिर जाने, भगवद्दर्शन करने, भगवत् स्मरण करनेका समय नहीं। यदि थोड़ा समय मिल भी जाता है तो सिनेमा गृहमें जाकर आधुनिक देवता-अभिनेता अभिनेत्रियोंके चित्रोंके दर्शनकर लेता है या उनके गीत वेद वाक्योंकी भाँति गुन-गुना लेता है। वेष-भूषा अधिकांशरूपसे उसने पश्चिमीय अपनाली है। अब उसे हिन्दू या आर्य कहलानेमें लज्जा प्रतीत होती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि सद्गुणोंको ध्यानमें लेना भी पाप समझ रहा है। पाखण्डपूर्ण जीवन चला रहा है। मन्दिर, भजन, देव मूर्तिको भी उस ने व्यापारका साधन मान लिया है। चरित्रों-का स्वयं पालन न कर दूसरोंको उपदेश देनेमें अपनी महत्ता मानता है। स्वयं अशिक्षित रहकर दूसरोंको शिक्षा देनेका ढोंग रचता है।

यही रूप अन्य आश्रमोंका है। सब नाम मात्रको ही रह गये हैं। इसी कारणसे देशकी स्थिति दिनों दिन बदलती जा रही है। सबके लिये प्रारम्भसे ही संस्कारोंकी आवश्यकता है। संस्कारोंकी ओरसे उपेक्षा वृत्ति ही आजके रूपको लानेका कारण है। संस्कारों-के पश्चात् ही सुन्दर परिमार्जित हृदयमें भगवद्-भक्तिके अंकुर जमते हैं। भक्ति और भगवानमें निष्ठा होती है। परन्तु अभी आमूल चूल परिवर्तनकी जरूरत है। फिरसे भारतीय अध्यात्म या विज्ञानसे मानवको संस्कृत करना है। यह तो एक मानव संस्कार या विज्ञानकी चर्चा है। यहाँ के इसी प्रकार सभी विज्ञान उच्चकोटि पर पहुँचे हुए थे। अब श्रीकृष्णके अनुग्रह पर ही सब साध्य है।

—बागरोदी कृष्णचन्द्र शास्त्री, साहित्याचार्य,
काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न

श्रीचैतन्य महाप्रभु और उनका सिद्धान्त

आज भौतिक विज्ञान अपने चरम विकाश पर है। भौतिक सुख-समृद्धिके लिये नाना प्रकारकी वस्तुओं और यंत्रादिके आविष्कार हुए हैं। धर्म-विरोधी शिक्षाका भी अत्यधिक प्रचार हुआ है, जिसमें वर्ण व्यवस्था, रहस्यपूर्ण साम्प्रदायिक विचार धारा एवं प्राचीन भारतीय संस्कृतिको मिटानेके लिये पूरी चेष्टा हुई है। परन्तु इस भौतिक-विज्ञान और धर्म-निरपेक्ष अधार्मिक कुशिक्षाका विनाशकारी फल लक्ष्य कर समाजकी चोटीके बुद्धिमान लोग भी आज धर्म-शिक्षाकी आवश्यकता एक बार फिर अनुभव करने लगे हैं। लोग एक ऐसे महान् आदर्शकी खोज में हैं, जिससे वे कम-से-कम परिश्रममें, सहजसे सहज और स्वाभाविक रूपमें सच्चे धर्म-पथ पर चल कर यथार्थ सुख और शान्तिको प्राप्त कर सकें। ऐसी दशामें उन लोगोंका श्रीचैतन्य महाप्रभु और उनकी शिक्षाओंके प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है। स्वयं भगवान् श्रीचैतन्यदेवने जीवोंके कल्याणके लिये जिस प्रेम-धर्मका—जिस विशुद्ध भगवद्भक्तिका आचार और प्रचार किया है, वही जीवमात्रका स्वाभाविक और सहज-धर्म है। वेद, पुराण और उपनिषद् आदि ग्रन्थोंका सार श्रीचैतन्यदेवकी वाणी-में ही संरक्षित है। हमारे पूर्व आचार्योंके परस्पर-विरोधी लगनेवाले उपदेशों और सिद्धान्तोंका अपूर्व समन्वय श्रीचैतन्यदेवके उपदेशोंमें ही पाया जाता है। श्रीमद्भागवत और गीताको तो वे मानों मूर्ति-मान स्वरूप हैं। अस्तु,

आज सब लोग यह जानना चाहते हैं कि श्रीचैतन्य महाप्रभुजीके सिद्धान्त क्या हैं? तथा शुद्ध वैष्णव धर्म क्या है? विद्वन्मण्डलीको ऐसा विश्वास हो रहा है कि मानव-धर्म कदापि अनेक प्रकारका नहीं हो सकता है। जो धर्म मनुष्यके लिये नित्य है, वह उत्तरी ध्रुवमें रहनेवाले मनुष्यके लिये अलग और दक्षिणी ध्रुवमें रहनेवाले मनुष्यके लिये अलग नहीं हो सकता है। मूलतः नित्य-धर्म एक है; वह एक, दो या भिन्न-भिन्न जातियों और देशोंके मनुष्योंके लिये भिन्न-भिन्न नहीं हो सकता। फिर धर्म अनेक प्रकारके क्यों हुए? इसका सदुत्तर यह है कि शुद्ध अवस्थामें विश्व-ब्रह्माण्डके अखिल जीवोंका धर्म एक ही प्रकारका होता है। जड़बद्ध होनेपर जीवका धर्म प्रथमतः दो प्रकारका होता है—सोपाधिक और निरुपाधिक। निरुपाधिक-धर्म भिन्न-भिन्न देशोंमें भी एक ही प्रकारका होता है अर्थात् देश भेदसे भी निरुपाधिक-धर्म सर्वत्र, सब कालोंमें एक ही प्रकारका होता है। परन्तु जड़-उपाधि-प्राप्त जीवके देश-काल और पात्रके भेदसे सोपाधिक-धर्म ही विभिन्न देशोंमें विभिन्न रूपों और विभिन्न नामोंसे प्रचलित है। जीव जितना ही उपाधिसे दूर होता जाता है, उसका धर्म भी उतना ही निरुपाधिक अर्थात् उपाधिसे रहित होता जाता है। निरुपाधिक अवस्थामें सभी जीवोंका एक नित्य धर्म होता है।

'जीवका-धर्म' कहनेसे केवलमात्र मनुष्य जातिके धर्मका ही नहीं, वरन् विश्वके भीतर और बाहरके प्राणीमात्र (जीवमात्र) के धर्मका बोध होता है। अनन्त जीवोंकी तुलनामें मनुष्य योनि प्राप्त जीवोंकी संख्या बहुत ही नगण्य है। मुक्त जीवोंकी तो बात अलग रहे, बद्धजीवोंके अन्तर्गत केवल पृथ्वी पर पैदा हुए बद्धजीव ८४ लाख प्रकारकी विभिन्न योनियों में पैदा हुए है, जिनमें मनुष्य केवल चार लाख प्रकारके ही हैं अर्थात् केवल ४ लाख प्रकारकी योनियाँ मनुष्य की हैं। अतएव मानव-धर्मकी अपेक्षा जीव-धर्म बहुत ही व्यापक और असीम है, इसकी सहज ही कल्पनाकी जा सकती है। अतएव जीव-

धर्म या आत्म-धर्म कहनेसे अखिल विश्व ब्रह्माण्डके निखिल चेतन जीवात्माओंके धर्मका बोध हो जाता है। इसीको वैष्णव-धर्म या भागवत-धर्म भी कहा जाता है । श्रीचैतन्य महाप्रभुने इसी जीव-धर्म या वैष्णव-धर्मका स्वयं आचरण कर प्रचार किया है । इस जगतकल्याणकारी कार्यके लिये उन्होंने अपने प्रधान-प्रधान दो सेनापतियों—श्रीरूप और श्रीसनातन गोस्वामीको मथुरा मण्डलमें भेजा, जिससे कि वे सारे उत्तर भारतमें उनकी वाणीका प्रचार कर सकें। अपने द्वितीय स्वरूप श्रीनित्यानन्द प्रभु तथा श्री-अद्वैताचार्य प्रभुको गौड़देशमें अर्थात् पूर्वी भारतमें भेजा और वे स्वयं सारे दक्षिण भारतमें भ्रमण किये। उन्होंने अपने हजारों-हजारों भक्तोंको पृथ्वी भरमें सर्वत्र ही शुद्धाभक्ति प्रचार करनेकी आज्ञा दी थी।

'अतएव माली आज्ञा दिल सबाकारे ।
जहाँ तहाँ प्रेम फल देह यारे तारे ॥
भारत-भूमिते हैल मनुष्य जन्म यार ।
जन्म सार्थक करि कर पर-उपकार ॥'

अर्थात् प्रेम-फलके माली श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने अपने सभी भक्तोंको यह आज्ञा दी थी कि वे लोग पृथ्वी भरमें यत्र-तत्र-सर्वत्र ही उस प्रेमफलका वितरण करें । उन्होंने कहा था कि भारतभूमिमें मानव-योनिमें जो लोग पैदा हुए हैं, वे अपना जन्म सफल करके निरन्तर पर-उपकार करें अर्थात् स्वयं यह अनुभव करें कि जीवका क्या धर्म है और तब सम्पूर्ण विश्वके भगवत् विमुख जीवोंको भी इसका रहस्य समझा कर उनका भी उपकार करें । इससे बढ़ कर दूसरा कोई उपकार नहीं है।

श्रद्धालु पाठकगण ! बड़े-बड़े विद्वान् और बुद्धिमान व्यक्ति दूसरे-दूसरे धर्म-प्रचारकोंको छोड़कर हमारे जीवितेश्वर श्रीमन्महाप्रभुके प्रचारित विशुद्ध वैष्णव-धर्मकी शिक्षा जाननेकी चेष्टा करेंगे—इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । इस समय श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षाओंको ठीक-ठीक रूपमें जगत्को प्रदान करना ही हमारा प्रधान कर्त्तव्य है । कुछ नीच बुद्धिवाले लोग इस सुयोगका नाजायज फायदा उठा कर नानाप्रकारके झूठ-मूठ स्वकपोलकल्पित मतोंका प्रचारकर जनताको ठगनेका प्रयास करते हैं । कुछ लोग अज्ञानतावश सरल मार्गको छोड़ कर अनावश्यक किसी कठिन और अनिश्चित मार्ग पर चल कर अपनेको तथा जनताको—दोनोंको ही ठगते हैं । सरल श्रद्धालु और धर्म-पथ पर चलनेवाले युवकोंके कल्याणके लिये हम श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाओंको सरल-से-सरल रूपमें लिपिबद्ध करनेकी चेष्टा करेंगे ।

सब प्रकारके शुभकार्योंमें स्वार्थपरताके समान और कोई बाधा नहीं है । कुछ लोग स्वार्थके लिये जान-बूझकर भी कुमतोंका प्रचार करते हैं । पाठकवृन्द ! आपलोग विश्वास करें, हमारा इसमें तनिक भी स्वार्थ नहीं है । कनक, कांचन, कामिनी अथवा आचार्य-अभिमान—हम कुछ भी नहीं चाहते हैं। हमारी तो केवलमात्र यही अभिलाषा है कि हमने श्रीचैतन्यदेवके उपदेशामृतका जैसा आस्वादन किया है, दूसरे भी ठीक वैसा ही आस्वादन कर सकें ।

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी लीला-कथाओं और उनकी शिक्षाओंके सम्बन्धमें श्रीरूप-सनातन-जीव-रघुनाथ आदि छः गोस्वामियोंके संस्कृत-ग्रन्थसमूह, श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीरचित 'श्रीचैतन्य-चरितामृत' और श्रीवृंदावनदास ठाकुर द्वारा रचित 'श्रीचैतन्य-भागवत' तथा इन भगवत् पार्षद गोस्वामियोंके अनुगत आचार्योंके ग्रन्थ-समूह ही प्रामाणिक और निर्भर योग्य हैं । उक्त ग्रन्थोंका अवलम्बन करके यदि श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षाका जगतमें प्रचार किया जाय, तो वही यथेष्ट है; परन्तु ये सभी ग्रन्थ संस्कृत या बंगलामें है । अतएव अधिकांश जनता इन ग्रन्थोंका आस्वादन करनेसे वंचित हैं । आजकल इस ओर लोगोंका ध्यान गया है और कुछ प्रयत्न भी हुए हैं ।

परन्तु उनकी अनभिज्ञता कहिये अथवा कुछ स्वार्थपरताके कारणोंसे गोस्वामियोंके आनुगत्य विहीन होनेसे कहिए, वे उनकी शिक्षाओंको ठीक ठीक रूपमें प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। साहित्य और मनोरंजनकी दृष्टिमें वे भले ही उत्तम हों, परन्तु उनका विश्लेषण करने पर 'विष रस भरा कनक घट जैसा' की उक्ति ही चरितार्थ होती है। इनके पठन-पाठनसे श्रीचैतन्यमहाप्रभुके सम्बन्धमें पाठकोंकी विपरीत धारणाएँ बन जाती हैं।

हमारी करबद्ध प्रार्थना है, वह यह कि स्वयं भगवान् श्रीचैतन्यदेवकी शिक्षाएँ गूढ़ वैज्ञानिक तत्त्व हैं। मनको भलीभाँति एकाग्र किये बिना वे सहज ही बोधगम्य नहीं हो सकती हैं। आजकल अधिकांश लोग आहारके पश्चात् बिस्तरे पर लेटे-लेटे उपन्यास आदि पढ़ते हैं। परन्तु इन शिक्षाओंको इस प्रकार पढ़ने कुछ भी लाभ नहीं होगा। श्रीचैतन्यदेवकी सम्पूर्ण शिक्षाएँ वेद-वेदान्त आदि शास्त्रोंके निगूढ़ तत्त्व हैं। श्रद्धापूर्वक विशेष मनोयोगके साथ सत्सङ्ग में समालोचनाके साथ-साथ धीरे-धीरे उनका पाठ करनेसे उन्हें हृदयङ्गम किया जा सकता है।

एक बात और भी सदा-सर्वदा स्मरण रखनी चाहिए कि श्रीचैतन्यदेव केवल साधक भक्त, सिद्ध भक्त, बड़े प्रचारक, प्रसिद्ध आचार्य या भगवदवतार ही नहीं थे; वे सर्व-अवतारोंके बीज अवतारी स्वयं-भगवान व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही थे। वे जीवों पर अत्यन्त कृपा करके अपनी सर्वोत्तम प्रेम-भक्तिका—जो एक मात्र व्रज-गोपियोंमें ही लभ्य है—जगत्में वितरण करनेके लिये आविर्भूत हुए थे। इस गोप-प्रेम का स्वयं आस्वादन कर उसको जगत्में दान करनेके लिये वे सर्वोत्तम गोप-रमणी सब शक्तियोंकी मूल-अंशिनी, प्रेमकी सीमा श्रीमती राधिकाके भाव और कान्तिमें अपने भाव और कान्ति (रूप) को छिपा कर भक्तभावमें अवतरित हुए थे। इसलिये ये श्रीमती राधा और श्रीकृष्णके मिलित तनु भी कहे जाते हैं।

श्रीगीता आदि शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है कि दुष्टोंका दमन और भक्तोंकी रक्षा करके जगत्में धर्म की स्थापनके लिये भगवान अवतरित होते हैं अर्थात् भूभार हरण कर युगधर्मकी स्थापनाके लिये उनका अवतार होता है। यह बात सम्पूर्ण सत्य है। परन्तु यह बात समझ लेनी चाहिए कि दुष्टोंका संहार करना और ध्यान, यज्ञ, अर्चन एवं नाम-संकीर्त्तन आदि युगधर्मोंका प्रवर्तन करना—ये कार्य मूल अवतारी स्वयंरूप कृष्णके नहीं हैं। इन कार्योंको स्वयं-कृष्ण अपने अंशावतारों या अंशोंके भी अंश—कलावतारों से ही सम्पन्न करा लेते हैं। वे तो अपने प्रेमीजनोंके साथ अवतीर्ण होकर केवल निर्मल व्रजरसका ही आस्वादन करते हैं तथा प्रेमी भक्तोंको उसका आस्वादन कराते हैं। वे स्वयंरूप कृष्ण ही इस कलियुगमें श्रीचैतन्य महाप्रभुके रूपमें अवतीर्ण होकर सर्वोन्नत उज्ज्वल रस—व्रज प्रेमका स्वयं आस्वादन कर जगत में उसका वितरण किये हैं? किसीने कहा भी है—

भाव राधिका माधुरी, आस्वादन सुख काज।
जयति कृष्ण चैतन्य जय, कलि प्रकटे व्रजराज॥

श्रीरूप गोस्वामीजीने भी श्रीचैतन्यदेवको प्रणाम करते हुए यही भाव व्यक्त किया है—

नमो महावदान्याय कृष्ण-प्रेम-प्रदाय ते।
कृष्णाय कृष्णचैतन्य-नाम्ने गौरत्विषे नमः॥

इसके साथ ही यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि जिस समय स्वयंरूप कृष्ण या श्रीचैतन्य महाप्रभु जगतमें अवतरित होते हैं, उस समय उनके शरीरमें अंशावतार या कलावतार भी विद्यमान रहते हैं और उन्हींके द्वारा असुर-दलन तथा नाम संकीर्तन-प्रचार आदि युगधर्मोंका स्थापन कार्य भी साधित होता है। अनभिज्ञ व्यक्ति भगवान्की इस लीला-रहस्यको समझ नहीं पाते हैं। अतएव यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिये श्रीचैतन्यदेव एक साधारण भावुक भक्त अथवा प्रधान आचार्य या महापुरुष ही नहीं हैं। वे

साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर हैं। उनकी शिक्षाओं का महत्व वेद आदिकी शिक्षाओंसे बहुत ही अधिक है। वेद-उपनिषद् जिन सर्वोच्च शिक्षाओंको व्यक्त नहीं कर सके हैं, हम उन्हें चैतन्यमहाप्रभुकी शिक्षाओंमें पाते हैं। अतएव पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षाओंका विशेष श्रद्धापूर्वक अनुशीलन करेंगे। पहले उनका संक्षिप्त जीवन-चरित्र दिया जा रहा है।

अविर्भाव

श्रीचैतन्य महाप्रभु बंगालके नवद्वीप नगर (श्रीमायापुर) में शकाब्द १४०७ में २३ फाल्गुन (१८ फरवरी १४८६ ई०) शुक्ला पूर्णिमाको होलिका के दिन अवतीर्ण हुए। सन्ध्याका समय था। चन्द्र-ग्रहण लगा हुआ था। नदियावासी जोर-जोरसे 'हरि बोल' के साथ-साथ कृष्ण, राम, हरि आदि भगवन्नामोंका कीर्तन करते हुए पुण्यतोया भगवती भागीरथीमें स्नान कर रहे थे। कुछ लोग स्नान करने जा रहे थे और कुछ लोग स्नान कर लौट भी रहे थे। हरएक घाट और सारा नगर हरिसंकीर्तनसे मुखरित हो रहा था। उसी समय भगवान् गौरहरि मानो यह सूचित करते हुए प्रकट हुए कि उनका आविर्भाव भगवन्नाम प्रचारके लिये ही हुआ है।

इनके पिता श्रीजगन्नाथ मिश्र कुलीन एवं वैदिक ब्राह्मण थे। माता शचीदेवी भी सर्वगुणसम्पन्ना भक्तिमती एवं आदर्श महिला थीं। इन दोनोंके परिवार पहले सिलहटमें रहते थे, पीछेसे नवद्वीपमें आकर बस गये थे। शचीदेवीकी एक-एक करके आठ कन्याएँ पैदा हुईं, परन्तु वे सभी मृत्युके मुखमें चली गयीं। नवें गर्भसे विश्वरूप नामका एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। सबसे छोटे श्रीचैतन्यदेव दसवें गर्भसे आविर्भूत हुए थे। वे बचपनमें इतने सुन्दर और गौरवर्णके थे कि लोगोंने उनका नाम ही गौरांग रख लिया। श्रीमहाप्रभुके नाना पण्डित नीलाम्बर चक्रवर्ती एक विख्यात ज्योतिषी थे। उन्होंने बालकके नामकरणके समय भविष्यवाणी की थी कि यह शिशु आगे चल कर एक महान पुरुष होगा। यह संसारका भरण पोषण करनेवाला दीखता है। इसलिये इनका नाम विश्वम्भर ही रखना उचित है। विश्वम्भरका जन्म एक नीमके पेड़के नीचे होनेके कारण माता शचीदेवी उसे प्यारसे 'निमाई' कहती थी युवावस्था तक यह "निमाई" नाम ही अधिक प्रसिद्ध रहा। अत्यधिक सुन्दर होनेके कारण पास-पड़ोसके पुरुष, स्त्रियाँ और बालक-वृद्ध सभी प्रतिदिन बालकको देखनेके लिये शची माता के घर आते-जाते रहते थे।

शैशव

शिशु-अवस्थासे ही निमाईमें कुछ अलौकिक लक्षण दीख पड़ने लगे थे। जब वे पलनेमें रोने लगते थे तो पासकी स्त्रियाँ पलनेके पास बैठ कर या गोदीमें उठा कर 'हरि बोल, हरि बोल' कह कर कीर्तन करने लगती थीं। इससे निमाई रोना भूलकर प्रसन्नतासे किलकारी मारने लगते थे। इस प्रकार शची माताके घरमें सदा-सर्वदा 'हरि बोल' की ध्वनि गूँजती रहती थी।

नामकरण-संस्कारके समय बंगालमें बालककी रुचिकी परीक्षा करनेका नियम है। उस दिन शिशु-निमाईके सामने अन्न, वस्त्र, अस्त्र, सोना, चाँदी और श्रीमद्भागवत आदि सजा कर रख दिये गये। निमाईने आगे बढ़कर श्रीमद्भागवत पर अपना हाथ रखा। ऐसा देख कर लोगोंने अनुमान किया कि यह बालक श्रीमद्भागवतका प्रकाण्ड विद्वान होगा इसके द्वारा निमाईने यह शिक्षा दी कि सोना, चांदी, अन्न-वस्त्र आदि सारे द्रव्य पार्थिव और अनित्य हैं, परन्तु श्रीमद्भागवत ही नित्य धन है। इसके द्वारा ही जीव सच्चा धनी हो सकता है।

बालक धीरे-धीरे चद्रकलाकी भाँति बढ़ने लगा। माता-पिताको उस समय बड़ा विस्मय होता, जब वे घरमें पुत्रके चरण-चिह्नके समान ही अपने आँगनमें

चरणचिह्न देखते। वे सोचते, उनके घरमें पूजित होने वाले गृहदेवता श्रीबालगोपालके ही चरणचिह्न हैं। इन चरणचिह्नोंमें वज्र, ध्वजा, चक्र, अंकुश आदि सभी चिह्न होते जो भगवान श्रीकृष्णके चरण-चिह्नमें होते हैं। फिर भी पुत्र-वात्सल्यके कारण माता-पिता कुछ समझ नहीं पाते थे।

जब निमाई घुटनोंके बल चलने लगे तो एक दिन उन्होंने एक विराट सर्पको देखा। वह गेहुरी मारे निमाईकी ओर देख रहा था। चंचल निमाई घुटनोंके बल चल कर साँपके पास पहुँचे और उसके ऊपर बैठकर उसके फणपर हाथों रखकर हँसने लगे। यह देखकर शचीमाता और पड़ोसकी स्त्रियाँ हाहाकार कर उठीं। भक्तोंको इस प्रकार भयभीत देखकर सर्प रूपी अनन्तदेव अन्तर्द्धान हो गये।

कुछ और बड़े होनेपर बालक निमाई घुटनोंके बल घरसे बाहर भी निकल जाते। एक दिन वे घरसे बाहर निकल कर रास्तेमें खेल रहे थे। इसी समय दो चोर उसी रास्तेसे निकले। चोरोंने लड़के के गलेमें सोनेकी जंजीर और दूसरे-दूसरे आभूषणों के लोभसे उसे अपनी गोदमें रखकर चल दिये। वे किसी निर्जन स्थानमें ले जाकर आभूषणोंको खोलने की ताकमें थे, परन्तु भगवानके मायावश चलते-चलते घूम-घाम कर भूलसे फिर उसी स्थान पर पहुँचे जहाँसे उसे उठाये थे। इधर निमाईके माता-पिता और दूसरे लोग घबड़ा कर बालकको ढूढ़ रहे थे। चोर उन्हें देखकर जल्दीसे बच्चेको रखकर भाग गये। निमाई पिताजीकी गोदमें जा चढ़े। लोग समझ ही नहीं सके कि बालकको कौन किसलिये ले गया था अथवा क्यों छोड़ गया।

एक दिन तो और भी आश्चर्यकी घटना हुई। एक ब्राह्मण नाना तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए नवद्वीप में श्रीजगन्नाथ मिश्रके घर पधारे। मिश्र और मिश्राणीके आग्रहसे वे उन्हींके घर पर रसोई पका-कर भगवानको भोग लगाये। ध्यानके पश्चात ज्योंही उनकी दृष्टि थाल पर गयी तो देखा, निमाई दोनों हाथोंसे अन्न खा रहा था। ब्राह्मणके चिल्लाने पर मिश्र और मिश्राणी-दोनों दौड़े आये और अपने चंचल निमाईकी करतूत देखकर बड़े दुःखित हुए। अन्ततोगत्वा उनके आग्रह पर ब्राह्मणने पुनः रसोई पका कर दूसरी बार गोपालको भोग लगाया। इस बार भी वही बात। निमाई ठीक उसी समय न जाने कैसे पहुँच कर भोजन करने लगे। इस बार निमाई को घरमें बन्द कर दिया गया। गृहपतिके बार-बार आग्रहके कारण ब्राह्मणने तीसरी बार रसोई बनाकर फिर भोग लगाया। परन्तु फिर वही दृश्य। ब्राह्मण हैरान थे। इतनेमें निमाईने ब्राह्मणके सामने क्रमशः चतुर्भुज और द्विभुजरूप प्रकट कर कहा—'विप्र! तुम मेरे नित्य सेवक हो। जब तुम मुझे बुला रहे हो तो मैं कैसे नहीं आऊँ? अपने इष्ट देवका दर्शन कर ब्राह्मण प्रेमसे गद्गद् हो गये। उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। महाप्रभुने ब्राह्मणको यह रहस्य प्रकट करनेके लिये मनाकर दिया। ब्राह्मण अपने सौभाग्यकी सराहना करते-करते निमाईका उच्छिष्ट महाप्रसाद ग्रहण किये।

इसी प्रकार एक दिन निमाई मिठाईके बदले मिट्टी खा रहे थे। यह देखकर शचीमाता बड़ी बिगड़ी और उन्हें डाँटने लगी। निमाई अब कुछ-कुछ बोलने लगे थे। उन्होंने मातासे कहा—माँ! तुम क्यों बिगड़ रही हो; मिट्टी और सन्देश आदि मिठाइयोंमें क्या अन्तर है? ये सभी मिट्टीके ही तो विकार हैं। हमारा शरीर भी तो मिट्टी का ही विकार है; फिर मिट्टी खाऊँ चाहे मिठाई, इनमें क्या भेद है?' श्रीशचीदेवी भी कम नहीं थी; वे भी पंडितकी बेटी और पण्डितकी स्त्री थीं। उन्होंने उत्तर दिया—'बेटा! तुम ठीक कह रहे हो कि सभी कुछ मिट्टीका ही विकार है; परन्तु उन विकारोंमें अनुकूल और प्रतिकूलका विचार है। मिट्टीके घड़ेमें पानी रखा जाता है; परन्तु कच्ची मिट्टीके पिण्डमें जल रखने से मिट्टी गलजाने पर पानी सर्वत्र फैल जायगा। उसी

प्रकार मिट्टीके विकार—अन्न खानेसे शरीर पुष्ट होता है; परन्तु मिट्टी खानेसे शरीर अस्वस्थ और नष्ट हो जाता है। इस लिये मिट्टी नहीं खानी चाहिए। माता के इस उत्तरको सुनकर निमाई बड़े आनन्दित हुए और भविष्यमें ऐसा न करनेकी प्रतिज्ञा किये।

विद्यारंभ और चंचलता

कुछ और बड़े होनेपर श्रीजगन्नाथ मिश्रने निमाई का 'विद्यारंभ, कर्णवेध और चूड़ाकरण-संस्कार सम्पन्न करवाया। बालक निमाई दो-तीन दिनोंमें सम्पूर्ण वर्णमाला और संयुक्त अक्षर सीख लिये। वे जब मधुर स्वरसे वर्णोंका उच्चारण करते, 'राम' 'कृष्ण', 'मुकुन्द' आदि शब्द लिखकर पढ़ते तो सुननेवाले मोहित हो जाते थे। इस समय निमाई बड़े ही चंचल थे। यह चंचलता क्रमशः बढ़ती गयी।

श्रीअद्वैताचार्यकी पाठशालामें

निमाईके बड़े भाई विश्वरूपजी श्रीअद्वैताचार्य की पाठशालामें पढ़ते थे। श्रीअद्वैताचार्य सर्वशास्त्र पारंगत प्रसिद्ध विद्वान् थे। साथ-ही भगवानके परम भक्त थे। शास्त्रमें उनको महाविष्णुका अवतार कहा गया है। श्रीगौरचन्द्रके अवतीर्ण होनेके पहलेसे ही इन्हींकी कुटीमें ठाकुर हरिदास, श्रीवास पण्डित श्रीगंगादास, श्रीशुक्लाम्बर ब्रह्मचारी, श्रीचंद्रशेखर, श्रीमुरारीगुप्त आदि प्रधान-प्रधान वैष्णवगण एकत्र होकर भगवानकी लीलाकथाओंका श्रवण और कीर्तन किया करते थे। इन्होंने कलिका ताण्डव नृत्य देख कर तुलसी और गंगाजलसे भगवानकी आराधना की थी—गौरावतारका यह भी एक प्रधान कारण माना गया है, विश्वरूप बड़े ही मेधावी, उज्ज्वल प्रतिभासम्पन्न छात्र थे। वे बचपनसे ही संसारके प्रति उदासीन थे। केवल भोजन करनेके लिये घर पर आते, अन्यथा सारा दिन पाठशालामें आचार्यके निकट रहते। माता की आज्ञासे निमाई अपने बड़े भाईको भोजन करनेके लिये बुलाने जाते। उस समय निमाईका अपूर्व सुन्दर रूप देखकर आचार्य ठगेसे रह जाते। सोचते, मेरे मनको भी आकर्षित करनेवाला यह परम अद्भुत बालक कौन है। निमाई भी उनकी ओर देखकर मुसकरा देते थे; मानो वे कहते, 'तुम मुझे पहचान नहीं रहे। तुमने ही तो मुझे अपनी आराधनासे बुलाया है।' इधर विश्वरूपका वैराग्य दिनों दिन बढ़ने लगा। यहाँ तक कि वे एक दिन माता-पिता और घरबार—सबको छोड़कर चुपचाप निकल पड़े और संन्यास ग्रहण कर शंकारण्यके नामसे प्रसिद्ध हुए।

विश्वरूपके संन्यास लेनेपर श्रीशचीदेवी और जगन्नाथ मिश्र बड़े दुखी हुए। उस समय छोटा होने पर भी निमाईने माता-पिताको सान्त्वना देते हुए कहा—'पिताजी ! आपलोग दुःखी न हों। भैयाने तो हमारे कुलका उद्धार कर दिया। इसमें शोककी बात ही क्या है ? मैं आप लोगोंकी सेवा करूँगा।' निमाईकी बात सुनकर सबको बड़ी सान्त्वना मिली।

उपनयन और अध्ययन

विश्वरूपके संन्यासके पश्चात् निमाईकी चंचलता कम हो गयी। अब वे बड़े मन लगाकर पढ़ने लगे। परन्तु इससे माता-पिताको प्रसन्नता नहीं हुई। उन्हें ऐसा डर हो गया था कि निमाई भी कहीं पढ़-लिख कर बड़े भाईकी तरह संन्यासी न हो जाय। अतएव मिश्रने निमाईका पढ़ना बन्द करवा दिया। इस पर निमाई पहलेसे भी अधिक चंचलता और उपद्रव करने लगे। एक दिन तो ये घरके पिछवाड़ेमें फेंकी गयी टूटू-फूटी कालिख लगी हुई हाड़ियोंके ऊपर जा बैठे। इस समय निमाई चार वर्षके थे। शचीदेवीको यह बात मालूम होनेपर उन्होंने बड़े प्यारसे उस स्थानको अपवित्र बतलाकर स्नान करनेके लिये कहा। परन्तु निमाईने उनकी एक भी नहीं सुनी। वे बोले—माँ ! इन हाड़ियोंको तुम अपवित्र कैसे बतला रही हो ? जिन हाड़ियोंमें भगवानका भोग पका है, भला

वे कभी अपवित्र हो सकती हैं ? जिनका नाम करनेसे, जिनके क्षणमात्रके सम्बन्धसे पापी जीव भी उद्धार पा जाते हैं, उनके सम्बन्धसे फिर ये हाड़ियाँ कैसे अपवित्र रह गयीं ? ऐसा सुनकर भी जब शचीदेवी बार-बार उस स्थानसे हटनेके लिये अनुरोध करने लगीं तब निमाई फिर बोले—'तुम तो मुझे पढ़ने नहीं देती; फिर मैं शुचि-अशुचिका विचार कैसे समझूँ ।' निमाईकी बात सुनकर पास-पड़ोसकी स्त्रियाँ शचीदेवी और जगन्नाथ मिश्रको ही बुरा-भला कहने लगीं—'हमारे बच्चे तो पढ़ना ही नहीं चाहते, हम मार-पीट और फुसला कर पढ़ाती हैं और कहाँ यह बच्चा पढ़ना चाहने पर भी आप पढ़ना रोक रही हैं; यह बात ठीक नहीं है ।"

पड़ोसियोंकी बात सुनकर शचीदेवीने जब निमाईको पढ़ानेका आश्वासन दिया तब कहीं वे उठकर नहाये धोये । मिश्र भी पत्नी और पड़ोसियोंका आग्रह टाल न सके । उन्होंने एक शुभ दिन और शुभलग्नमें निमाईका विधिवत उपनयन संस्कार करवा कर उन्हें नवद्वीपके श्रेष्ठ अध्यापक श्रीगंगादास पण्डितकी पाठशालामें पढ़नेके लिये भर्ती कर दिया । श्रीगंगादास पण्डित निमाई जैसे मेधावी एवं प्रतिभासम्पन्न छात्र को पाकर बड़े प्रसन्न हुए । थोड़े ही दिनोंमें निमाई संस्कृत व्याकरण और धर्मशास्त्रोंके पारंगत विद्वान हो गये । इसके साथ ही वे घर पर न्याय, वेदान्त आदि दर्शनों का अध्ययन कर इन विषयोंके भी अतुलनीय पाण्डित्य अर्जन कर लिये ।

इस प्रकार दस वर्षकी आयुमें ही निमाई व्याकरण, धर्मशास्त्र, स्मृति और न्याय शास्त्रके विख्यात पण्डित हो गये । बड़े-बड़े विद्वान भी उनके साथ शास्त्रार्थ करनेसे डरते थे । इतना बड़ा विद्वान होनेपर भी निमाई पण्डित प्रतिदिन नियमित रूपसे गंगा स्नान कर विधिवत रूपसे श्रीविष्णुकी पूजा करते, श्रीतुलसीमें जल देते, श्रीतुलसीकी परिक्रमा करते तथा अतिथि-अभ्यागतों और वैष्णवोंका यथा शक्ति सत्कार और उनकी सेवा करते थे ।

एक दिन श्रीजगन्नाथ मिश्रने स्वप्नमें देखा कि 'निमाई संन्यासी-वेशमें श्रीअद्वैताचार्य आदि भक्तोंके साथ हरिनाम-संकीर्तन कर रहा है । उसकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा प्रवाहित हो रही है । कभी वह भावावेशमें नृत्य करता है, कभी हँसता है, तो कभी कटे वृक्षकी भाँति पृथ्वी पर मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है । कभी वह श्रीविष्णुके सिंहासन पर बैठकर सबके मस्तक पर अपना पैर रख रहा है । वहाँ ब्रह्मा, शिव और दूसरे-दूसरे देवगण 'जय शचीनन्दन' कह कर उसका स्तुतिगान कर रहे हैं'—ऐसा देखकर मिश्रजी बड़े व्याकुल हो गये । उनके हृदयमें यह बात गड़ गयी कि निमाई भी अपने बड़े भाई की भाँति उन लोगोंको छोड़ देगा । शचीदेवी और इष्ट मित्रोंके समझाने पर भी उनको किसी प्रकार सान्त्वना न मिली । वे कुछ ही दिनोंमें इसी बातकी चिन्ता करते-करते वैकुण्ठ सिधारे । असामयिक पति-वियोगसे शचीदेवी बड़ी ही विरह-कातरा हो पड़ी । परन्तु श्रीनिमाई पण्डितने किसी प्रकार उनका धैर्य बँधाया ।

गृहस्थाश्रममें प्रवेश और दिग्विजयी की पराजय

पितृ वियोगके पश्चात घरका सारा भार निमाई पंडित के कंधेपर आ पड़ा । उन्होंने एक पाठशाला खोल ली और अध्यापनाका कार्य करने लगे । धीरे-धीरे इनकी पाठशाला नवद्वीपकी प्रसिद्ध पाठशालाओंमें गिनी जाने लगी । इसी समय केशव काश्मीरी नामक एक दिग्विजयी पण्डित भारतके विभिन्न नगरोंमें घूमता-हुआ वहाँके पण्डितोंको शास्त्रार्थमें परास्त करता हुआ नवद्वीपमें पहुँचा । कहते हैं, उसे वाक्‌की अधिष्ठात्री देवी सरस्वतीजीकी सिद्धि थी । उसके नवद्वीप

पहुँचते ही वहाँके प्रसिद्ध-प्रसिद्ध अध्यापक और पण्डित डरसे या तो नगरसे बाहर चले गये अथवा घरोंमें छिप गये। पूछने पर कुछ लोगोंने दिग्विजयी को युवक अध्यापक—निमाई पण्डितकी बात बतलाई। एक दिन शामको अपने पाण्डित्यके मदमें ऐंठता हुआ दिग्विजयी पण्डित गङ्गाके तट पर टहलते-टहलते छात्रोंसे घिरे हुए निमाई पण्डितके पास जा पहुँचा। उस समय निमाई पण्डितकी अवस्था लगभग १६ वर्ष की ही थी। वे तो अपने कुछ भी छोटे थे। उन छोटे-छोटे छात्रोंको परस्पर विद्याचर्चा करते देख कर स्वाभिविक रूपसे उनके बीच घास पर बैठ गया। वह अभी तक निमाई पण्डितको पहचानता नहीं था। फिर भी उन छात्रोंमें सबसे अधिक सुन्दर और सब प्रकारसे आकर्षक व्यक्तित्व देखकर समझ गया कि ये ही निमाई पण्डित हैं। उधर छात्रोंने भी इङ्गितसे निमाई पण्डितको यह बतला दिया कि ये ही दिग्विजयी पण्डित हैं। निमाई पंडित बड़ी ही नम्रता से बोले—हमलोगोंका परम सौभाग्य है कि आप जैसे सरस्वतीके वरद पुत्र—संसार विजयी विद्वान्का दर्शन मिला है। मैं तो आपका शिष्य होने योग्य भी नहीं हूँ। हम सभी आपके मुखसे गङ्गाजीकी महिमा सुनना चाहते हैं।'

निमाई पण्डितके मुँह अपनी प्रसंसा सुनकर उसके मुख मण्डलपर एक अभिमान मिश्रित मुस-कराहट छा गयी। 'अच्छी बात है, सुनो।'—ऐसा कह कर उसने बिना प्रयास ही बातकी बातमें गंगाके माहात्म्यसूचक एक-से-एक सुन्दर, सरस और अलंकार-पूर्ण सैकड़ों नवीन श्लोकोंकी—घोड़ेकी सरपट चाल की भाँति बिना रुके हुए झड़ी लगा दी। सभी लोग विस्मित हो गये—'वाह, वाह' कहने की भी किसीको हिम्मत न हुई। मन-ही-मन सभी उसकी कवित्व-शक्तिकी प्रशंसा करने लगे। अन्तमें निमाई पण्डितने दिग्विजयी पण्डितसे ही उन श्लोकोंकी व्याख्या और गुण-दोष वर्णन करनेकी प्रार्थना की। इस पर दिग्विजयी कहने लगे कि—'केशव काश्मीरी की कवितामें कभी भी कोई दोष नहीं होता। हाँ, कहो तो व्याख्या और गुण सुना दूँ। अच्छा, इन सैकड़ों श्लोकोंमेंसे किस श्लोककी व्याख्या और उसके गुणों को सुनना चाहते हो।' दिग्विजयीको ऐसा विश्वास था कि इतनी शीघ्रतासे सुनाये गये बिलकुल नवीन श्लोकोंमेंसे किसी भी एक श्लोकको कोई स्मरण नहीं रख सकता है। परन्तु जब निमाई पण्डित ने उन श्लोकोंमें से एक श्लोक अक्षरशः सुनाकर उसकी व्याख्या और गुण-दोष पूछा तो दिग्विजयी भी आश्चर्यचकित रह गया। परन्तु इससे भी बढ़ कर उसे आश्चर्य तब हुआ जब कि निमाई पण्डितने यहा कहा कि यदि बुरा न मानें तो मैं इस श्लोकके कुछ दोषों और कुछ गुणोंका वर्णन करूँ। दिग्विजयी की नसें कुछ ढीली पड़ने लगी थी। उसने कुछ साहस बटोर कर पूछा—'तुमने उन बिलकुल नवीन श्लोकोंमेंसे एक श्लोक कैसे याद कर लिया।' निमाई पण्डितने झट उत्तर दिया—यदि देवताकी कृपासे कोई कविवर हो सकता है तो, देवताकी कृपासे दूसरा श्रुतिधर भी हो सकता है।' दिग्विजयी चुप हो गया। फिर निमाई पण्डितने उस श्लोकके पाँच दोष और पाँच गुण बतलाये, जो साहित्यिक दृष्टिसे बड़े ही उच्चकोटिके थे। बस क्या था, 'दिग्विजयी की बोलती एकदम बन्द हो गयी। वह 'हाँ, ना' कुछ भी बोल न सका। लज्जासे उसका सिर झुक गया। सारा अभिमान मिट्टीमें मिल गया। इस पर कुछ छात्र ताली बजा कर हँसना आरम्भ किये। परन्तु अमानी-मानद धर्मके मूर्तिमान विग्रह श्रीमन् महाप्रभु ने सबको आँखके इशारेसे चुप कर दिया तथा पण्डितजीको उचित सम्मानके साथ विदा किया। परन्तु रातमें सरस्वती देवीकी आज्ञा पाकर दूसरे दिन सबेरे ही काश्मीरीजी निमाई पण्डितके घर पहुँचे और उनके श्रीचरणोंमें गिर कर क्षमा माँगने लगे। महाप्रभुजीने कृपा करके उनको भगवद् भक्ति-की शिक्षा देकर विदा किया। इस घटनासे निमाई पण्डितकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। अब वे अपने समयके सर्वश्रेष्ठ विद्वान माने जाने लगे।

इसी समय इनका विवाह नगरके संभ्रान्त एवं कुलीन पण्डित श्रीवल्लभाचार्यकी सुपुत्री लक्ष्मीदेवी के साथ सम्पन्न हुआ। विवाहके कुछ ही दिनों बाद ये अर्थ-संग्रहके बहाने अपने कुछ छात्रोंके साथ पूर्वी-बंगाल गये। वहाँ उन्होंने अधिकांश नगरोंका भ्रमण कर अपनी विद्वताकी धाक जमा दी। सैकड़ों लोग उनके शिष्य बन गये। वहीं पर उन्होंने श्रीतपन मिश्र नामक एक विद्वान एवं श्रद्धालु ब्राह्मणको वैष्णव-सिद्धान्तोंकी शिक्षा देकर वाराणसीमें वास करनेके लिये भेजा। निमाई पण्डितकी आज्ञासे तपनमिश्र "हरे कृष्ण हरे कृष्ण हरे कृष्ण हरे हरे। हरे राम, हरे राम। राम राम हरे हरे।'—इस महामन्त्रका कीर्तन करते हुए वाराणसीके लिये चल पड़े। इधर महाप्रभु भी प्रचुर अर्थ-सम्पत्ति लेकर नवद्वीप लौटे। यहाँ लौटने पर पता चला कि उनके पूर्व बंगालमें भ्रमणके समय ही उनकी धर्म-पत्नी लक्ष्मीदेवी इस नश्वर संसारको छोड़ चुकी थी। एकके बाद एक विपत्तियों और वियोगोंके बीच सर्वगुण सम्पन्ना अपनी बहूँके वियोगमें शचीदेवी बड़ी शोकमग्न थीं। महाप्रभुने शरीरकी अनित्यता समझा कर बड़ी मुश्किलसे उनका धैर्य बँधाया। माताके अत्यधिक आग्रहसे उन्होंने राज पण्डित सनातन मिश्रकी अद्वितीय गुणवती और रूपवती कन्यासे दूसरा विवाह किया। पाठशाला भी पूर्ववत चलने लगी।

विवाहके थोड़े दिनोंके बाद ही १६ या १७ वर्षकी अवस्थामें निमाई पण्डितने अपनी शिष्यमण्डलीके साथ गयाकी यात्राकी। वहाँ पर चक्रवेड़ तीर्थमें श्रीगदाधरके श्रीचरण-चिह्नका दर्शन कर उनकी बड़ी अद्भुत दशा हो गयी—अब तक केवल पण्डितके रूपमें परिचित निमाईके शरीरमें प्रेम-भक्तिके उत्तम अष्ट सात्त्विक भाव-समूह उदित होने लगे। आँखोंसे निरन्तर आँसुओंकी धारा बहने लगी; अङ्गोंमें कभी रोमांच, कभी पुलक आदि होने लगे। दैवयोगसे वहीं पर विख्यात वैष्णव यति माधवेन्द्रपुरीके शिष्य ईश्वर पुरीजीके साथ उनकी भेंट हुई। इनके दर्शनसे निमाई पण्डितके हृदयमें कृष्णप्रेमकी प्रबल तरंगें लहराने लगीं। वहीं पर श्रीईश्वरपुरीजीसे आध्यात्मिक दीक्षा भी ग्रहण की। अब उनकी दशा अद्भुतसे भी परम अद्भुत हो गयी। शरीरकी तनिक भी सुध-बुध नहीं रहती, दिन-रात 'हा कृष्ण! हा कृष्ण! हा प्राणनाथ कहाँ हो?' कहते-कहते जोर-जोरसे रोने लगे। साथियों के आग्रह करने पर भी घर लौटना नहीं चाहते थे; परन्तु श्रीईश्वर पुरीकी आज्ञा और आकाश-वाणीके निर्देश-से किसी प्रकार नवद्वीप लौटे। रास्तेमें ये कृष्ण प्रेममें उन्मत्त होकर भगवन्नामका जोर-जोरसे कीर्तन करते चलते थे।

गयासे लौटने पर इनमें इतनी अधिक धार्मिक-ज्योति प्रदीप्त हो उठी कि श्रीअद्वैताचार्य और श्रीवास पण्डित जैसे धुरन्धर तत्त्ववेत्ता और भक्त-लोग भी विस्मित रह गये। दिन-रात भावावेशमें मग्न रहनेके कारण पाठशाला भी बन्द कर देनी पड़ी; क्योंकि पढ़ाते समय सूत्र, टीका और वृत्तिके स्थल पर केवल कृष्णनाम और कृष्णभक्तिकी ही व्याख्या करने लगते। कभी-कभी तो सारी छात्रमण्डली भी उनके साथ उन्मत्त होकर ताली बजा-बजा कर नृत्य करती हुई हरिसंकीर्तनमें आत्मविभोर हो उठती थी। इसी समय श्रीवास पण्डितके घरमें संकीर्तन तथा शुद्धाभक्तिके प्रचार-केन्द्रकी स्थापना हुई। अब वहाँ भक्तोंका समूह एकत्र होने लगा; गौरहरि प्रतिदिन वहाँ भक्तोंके साथ प्रेमोन्मत्त होकर कीर्तन करने लगे। प्रचारका कार्य भी आरम्भ हो गया।

धीरे-धीरे भारतके विभिन्न भागोंके प्रेमी भक्त नवद्वीपमें एकत्र होने लगे। इसी समय नित्यानन्द प्रभु भी—जो वैष्णव-धर्मके प्रबल प्रचारक थे और समस्त भारतकी यात्रा कर चुके थे—नवद्वीपमें महाप्रभु के साथ सम्मिलित हो गये। नित्यानन्द प्रभुके अतिरिक्त, श्रीअद्वैताचार्य, श्रीहरिदास ठाकुर, श्री-गदाधर पण्डित श्रीवास, श्रीविद्यानिधि, श्रीमुरारी-गुप्त, श्रीहिरण्य, श्रीगंगादास पण्डित, श्रीबुद्धिमन्तखाँ, श्रीकाशीश्वर, श्रीवासुदेव, श्रीगोपीनाथ, श्रीधर पंडित

श्रीवक्रेश्वर पण्डित, श्रीगर्भ, श्रीशुक्लाम्बर, श्रीब्रह्मानन्द, श्रीसंजय आदि बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ, धर्मवेत्ता एवं प्रेमी भक्तगण भी श्रीमहाप्रभुकी संकीर्तन-मण्डलीमें योगदान किये । इन वैष्णव आचार्योंका उद्देश्य वैष्णव धर्मके उच्च सिद्धान्तोंको सब श्रेणीके लोगों में व्यापक एवं सरलसे सरल रूपमें प्रचार करना और उनको अनुप्राणित करना था । अस्तु;

श्रीमहाप्रभुजीने सबसे पहले श्रीनित्यानन्द प्रभु और श्रीहरिदास ठाकुरको नवद्वीपके घर-घरमें श्रीकृष्ण नामका प्रचार करनेके लिये आज्ञा दी । ये लोग नवद्वीपके घर-घर जाकर उनसे सदाचारसे रह कर हरिनाम ग्रहण करनेका उपदेश देने लगे। इसी बीच श्रीमहाप्रभुजीने श्रीवास पण्डित, आदि भक्तों के घर पर अपनी अलौकिक शक्तियों और अपने अनेक भगवद् स्वरूपोंका दर्शन कराया । इधर एक दिन श्रीनित्यानन्द प्रभु और हरिदास ठाकुर घर-घर में हरिनामका संदेश देते-देते नगरके दो प्रसिद्ध गुंडे जगाई और मधाईके पास पहुँचे और उनको हरिनाम का सबसे योग्यपात्र मानकर हरिनामका उपदेश सुनाने लगी । इन दोनों गुण्डोंसे संसारका कोई भी कुकर्म करनेको नहीं बचा था । हरिनामका शब्द सुनकर उनके क्रोधका ठिकाना न रहा । उनमेंसे मधाईने तो श्रीनित्यानन्द प्रभुके सिरमें फूटे हुए घड़ेके एक टुकड़े से ऐसा खींचकर मारा कि उनके सिरसे खूनकी धारा बह निकली । यह समाचार पाकर महाप्रभुजी दौड़कर घटना स्थल पर पहुँचे । वहाँ नित्यानन्द प्रभुको घायल अवस्थामें देखकर क्रोधमें भर कर 'चक्र'-'चक्र' चिल्लाने लगे । इतनेमें लोगोंकी विराट भीड़ एकत्र हो गयी । सबने अत्यन्त आश्चर्यसे देखा कि अद्भुत प्रकाशवाला चक्र जगाई और मधाईकी ओर बढ़ रहा है । ऐसा देखकर परम करुणामय श्रीनित्यानन्द प्रभुजीने सोचा, कहाँ तो प्रेमदानकी लीला और कहाँ यह विनाशका कार्य ! वे झट महाप्रभुजीका हाथ पकड़ कर उन दोनों पापियोंको क्षमा करके उद्धार करने के लिये प्रार्थना करने लगे, श्रीनित्यानन्द प्रभुकी प्रार्थनासे महाप्रभुजीने दोनोंको क्षमा ही नहीं किया, अधिकन्तु उनके समस्त पापोंको दूरकर अपनी दुर्लभ भक्ति भी प्रदान की । जगाई-मधाई दोनों प्रभुओंके चरणोंमें गिर पड़े । उनका सारा कल्मष उन पावन चरणोंके स्पर्शसे आँसुओंके साथ धुल गया और उनके हृदयमें प्रेम भक्तिका संचार हो गया । अब वे महाप्रभुजीके भक्तोंमें गिने जाने लगे ।

इस घटनाका नदिया और आस-पासके नगरों के लोगोंपर बड़ा ही प्रभाव पड़ा । धीरे-धीरे यह बात भी फैलने लगी कि निमाई पण्डित केवल बड़े विद्वान ही नहीं, अपितु वे सर्व शक्तिमान स्वयं भगवान भी हैं । उस समय बंगालमें मुसलमानी शासन था । तिस पर भी उन दिनों स्मार्त और शाक्त पंडितों की ही सर्वत्र धाक थी । इतना होनेपर भी संकीर्तनके माध्यमसे महाप्रभुजी अपने सिद्धान्तोंका प्रचार बड़ी ही सफलताके साथ नवद्वीप तथा पास पड़ोसके ग्रामों और शहरोंमें करने लगे । उनकी मण्डलीके विद्वान भक्तोंने इस पवित्र कार्यमें बड़ा ही हाथ बटाया । इसका प्रभाव यह हुआ कि अब नवद्वीपकी गलियोंमें, बाजारोंमें, प्रत्येक मुहल्लेमें हरिनाम संकीर्तन सुनाई पड़ने लगा । सर्वत्र ही एक नयी स्फूर्ति, नयी चेतनता दीख पड़ने लगी । सर्वत्र ही हरिनाम संकीर्तनकी चर्चा होने लगी । आस-पासके गाँव और नगर भी इससे अछूते न बचे ।

अच्छे कार्योंमें भी विरोधी-दलका अभाव नहीं होता ! एक तरफ जहाँ सज्जनवृन्द और भक्त मण्डली की प्रसन्नताका आर पार न था, वहाँ दूसरी ओर स्मार्त्त पण्डितों जैसे लोग भी थे जो विशुद्ध हरि-भक्तिका प्रचार और निमाई पण्डितकी सफलता देख कर ईर्ष्यासे जल मर रहे थे । उन्होंने निमाईके नाम-कीर्तन-प्रचारके मार्गमें अनेक प्रकारकी बाधाएँ डाली; परन्तु कोई फल नहीं हुआ । अन्तमें उन्होंने नगरके

प्रधान शासनकर्त्ता चाँदकाजीके पास इस विषयमें शिकायत की; क्योंकि वे जानते थे कि चाँदकाजी एक कट्टर और क्रूर स्वभावका मुसलमान होनेके नाते हिन्दुओंकी हिन्दुआईको दबानेमें अवश्य ही अपना सहयोग देगा। उन लोगोंने कहा— काजी साहब! निमाई पण्डितने नवद्वीपमें बड़ा ही शोरगुल मचा रखा है। वे मण्डली बनाकर जोर-जोरसे भगवान्नाम चिल्लाते हैं। रातमें लोगोंका सोना भी हराम हो गया है। दूसरी बात, उनका यह जोर-जोरसे भगवन्नाम चिल्लानेका कार्य हिन्दू धर्मके विरुद्ध भी है। इससे तो देश दुर्भिक्ष और महामारी आदि दैवी प्रकोपोंसे नष्ट हो जायगा। आप निमाई पण्डितको डाँट-डपटकर ऐसा करनेसे रोकें, अन्यथा इसका भयानक कुफल होगा।' चाँदकाजी तो ऐसा चाहता ही था। किसी सुअवसरकी ताकमें था। एक तो करेला दूसरे नीम चढ़ा। वह उसी दिन शामको अपने कुछ सिपाहियोंको साथ लेकर श्रीमायापुरमें श्रीवास पण्डितके घर पहुँचा। उस समय वहाँ जोरों से कीर्तन चल रहा था। संयोग वश उस समय महाप्रभुजी वहाँ नहीं थे। उसने क्रोधमें भर कर कीर्तनमण्डलीकी मृदङ्ग फोड़ दिया और सबको खूब धमकाया। जाते समय ऐसी धमकी भी देता गया कि यदि भविष्यमें कोई भी व्यक्ति कीर्तन आदि करता पाया जायगा तो उसकी जाति नष्ट कर दी जायगी और नगरसे निकाल दिया जायगा।'

चाँदकाजीकी इस घोषणासे भक्तलोगोंका सारा उत्साह ठण्डा पड़ गया। वे लोग कुछ डर गये। उन्होंने महाप्रभुजीके पास इस घटनाकी खबर दी। इससे महाप्रभुका शरीर क्रोधसे तमतमा उठा। उन्होंने अपने समस्त भक्तोंको बुलाया और उनको आदेश दिया कि वे नगरमें सर्वत्र इस बातकी घोषणा कर दें कि आज संध्याके समय उनके घरके सामने गङ्गा तट पर सारे नगरवासी अपने-अपने हाथोंमें एक-एक मशाल लेकर एकत्र हों। आज विराट रूपमें नगर-संकीर्तन होगा।' एक तो नगरकी अधिकांश हिन्दू जनता चाँदकाजीके कुकृत्यसे क्षुब्ध थी, दूसरे नगर संकीर्तन भी उस समयके लिये बिलकुल नयी बात थी। नवद्वीपके बालक, वृद्ध, युवा और स्त्रियाँ-सभी लोग अपने-अपने हाथोंमें मशाल लेकर निर्दिष्ट समयमें निर्दिष्ट स्थान पर एकत्र हुए। सबमें कुछ कौतूहल के साथ-साथ भारी उमंग थी। उनको चौदह दलोंमें विभक्त कर महाप्रभुजी अभूतपूर्व नगर-संकीर्तन के साथ चाँदकाजीके घर पर पहुँचे। यह नगर-संकीर्तन अपने तरहका सबसे पहला था। आज विश्वमें सर्वत्र ही नगर-संकीर्तनकी प्रथा फैल गयी है। महाप्रभु ही इसके मूल पुरुष हैं।

जब चाँदकाजीको इस बातकी खबर लगी, तो वे डरकर घरके भीतर छिप गये और भीतरसे दरवाजा बन्द कर लिये। परन्तु महाप्रभुजीके बार-बार आश्वासन देने पर डरते-डरते उनके सामने आये। उस समय महाप्रभुजी अपने विचारोंसे उन्हें ऐसा प्रभावित किया कि वे भी संकीर्तन मण्डलीमें सम्मिलित हो गये। साथ ही उन्होंने यह घोषणा की कि 'आजसे हमारे वंशका कोई भी कीर्तनमें बाधा नहीं दे सकेगा।' महाप्रभुके इस अलौकिक प्रभावको देखकर सभी लोग आश्चर्यचकित हो गये। अधिकांश विरोधियोंकी भी आँखें खुल गयीं। अब भगवन्नाम-प्रचारका कार्य बड़ी द्रुत-गतिसे बङ्गाल भरमें फैलने लगा। (क्रमशः)

भारत-परिक्रमापार्टीका जयपुरमें अपूर्व स्वागत

भगवानकी असीम कृपा और जीवोंके परम सौभाग्यसे ही ऐसे सुअवसर प्राप्त होते हैं, जब भगवनके परम प्रिय पार्षदोंके दर्शन मिलते हैं और उनकी वाणियाँ सुननेको मिलती हैं। हाल ही १४ नवम्बरका दिन एक ऐसे ही जगद्गुरुके शुभागमनसे जयपुरकी जनताके लिये अविस्मरणीय रहेगा। उक्त दिवस श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके आचार्यदेव शुद्धाभक्तिका प्रचार करनेके लिये बहुतसे संन्यासियों, ब्रह्मचारियों एवं गृहस्थ भक्तोंके साथ संरक्षित ट्रेन द्वारा कलकत्तेसे आरम्भ कर पुरी, मद्रास, तांजोर, रामेश्वर, धनुष्कोटि, मदूरा, कन्याकुमारी, श्रीरङ्गम, बम्बई, द्वारका, उज्जैन, नाथद्वारा और पुष्कर आदि तीर्थक्षेत्रोंको होते हुए—उनका दर्शन आदि करके पधारे थे। जयपुरकी श्रद्धालु जनता बड़ी उत्सुकतासे उनके शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रही थी।

गत १३ नवम्बरको १२ बजे रातमें ज्योंही संरक्षित गाड़ी जयपुर प्लेटफार्म पर पहुँची, वहाँकी दर्शन-पिपासु जनता हाथोंमें पुष्पमालाएँ ले-लेकर झुण्डके-झुण्डमें आगे बढ़ी और उसने अपूर्व उल्लास के साथ श्रीश्रीआचार्यदेवका स्वागत किया। दूसरे दिन मंगल आरती और कीर्तनके पश्चात सुबह ७ बजे आचार्यदेव नगर संकीर्तन एवं जुलूसके साथ नगरके देव-मन्दिरोंके दर्शनोंके लिये पधारे। 'श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति (नवद्वीप)' के अङ्कित पटके पीछे नाना-प्रकारकी पुष्प मालाओंसे सुसज्जित मोटरकारमें श्रीश्रीआचार्यदेव विराजमान हो रहे थे। उनके पीछे त्रिदण्डि-संन्यासियोंकी पंक्ति बड़ी मनोहर लग रही थी। उसके पश्चात् विराट संकीर्तन मण्डली और हाथोंमें रङ्ग-विरङ्गी ध्वजा-पताकाओंके साथ यात्री एवं उमड़ता हुआ जन-समूह। मेघ-गर्जनको भी मात करनेवाली मृदङ्गोंकी मधुर-गभीर-ध्वनि महामन्त्र और 'हरि बोल' के उच्च संकीर्तन-स्वरके साथ मिलकर भक्तोंके मन-मयुरको पद-पद पर नचा रही थी। भक्तोंका भावपूर्ण नृत्य और कीर्तन देखकर पथिक राह चलना भूल कर खड़े हो जाते थे। इस प्रकार नगरसंकीर्तनका इतना विशालरूप हो गया था कि उसका ओर-छोर आसानीसे दिखलायी नहीं पड़ता था।

नगरके मुख्य द्वार चाँदपोलसे नगरमें प्रवेशकर परिक्रमा-पार्टी क्रमशः श्रीश्रीराधागोपीनाथजी, श्रीलोकनाथ गोस्वामी द्वारा प्रतिष्ठित श्रीश्रीराधाविनोदीलालजी और श्रीश्रीराधागोविन्दजीके दर्शनोंके पश्चात् गालवाश्रम (श्रीगलताजी) में उपस्थित हुई। ऊँची-नीची पहाड़ी मार्गके दोनों ओरका प्राकृतिक सौन्दर्य यात्रियोंके मनको सहज ही आकर्षित कर रहा था। सब लोग श्रीगलता-कुण्डका दर्शनकर तथा उनका पवित्र जल पान करके उस मन्दिरमें उपस्थित हुए, जहाँ एक समय गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीबलदेव विद्याभूषणजीने वहाँकी पण्डित-मण्डिलीको शास्त्रार्थमें परास्त करके वहाँ पर (जयपुर और श्रीगलतामें) श्रीगौड़ीय-सम्प्रदायकी लुप्तप्राय मर्यादाकी पुनः प्रतिष्ठा की है। यहाँ एक सभाका आयोजन किया गया था, जिसमें श्रीश्रीआचार्यदेवने लगभग एक घण्टे तक श्रीश्रीबलदेव विद्याभूषण और श्रीगलताजीके सम्बन्धमें बड़ी ही ओजस्वीनी भाषामें भाषण किये। इसके पश्चात् पार्टीने दिनके ३ बजे रेलवे स्टेशन लौटकर महाप्रसाद सेवन दिया।

तदनन्तर शामको नगरके बहुतसे प्रतिष्ठित और शिक्षित व्यक्ति श्रीश्रीआचार्यदेवके दर्शनों तथा उनके उपदेशोंका श्रवरण करनेके लिये उपस्थित हुए। वे लोग श्रीश्रीआचार्यदेवकी वाणियोंको सुनकर बड़े ही प्रभावित हुए और अपने-अपने सौभाग्यकी सराहना करते-करते लौट गये।

परिक्रमा पार्टी अपने कार्यक्रमके अनुसार रातके १२ बजे मथुराके लिये रवाना हो गयी।

—श्रीओमप्रकाश ब्रह्मचारी, 'साहित्यरत्न', सहकारी सम्पादक

महाप्रयाण

श्रीपाद सखीचरणदास बाबाजी महाराज—जो कुछ दिन पहले तक सर्वसाधारणमें 'श्रेष्ठार्य श्रीसखीचरण, भक्ति विजय' के नामसे विख्यात थे—गत १ नवम्बर, बुधवारको श्रीधामवृन्दावनके प्रसिद्ध सिद्धपीठ श्रीईमलीतलामें रातके १० बजे स्वधामको पधार गये हैं। ये महात्मा विश्वविख्यात श्रीगौड़ीय मठ-मन्दिरोंके प्रतिष्ठाता जगद्गुरु श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी 'प्रभुपाद' के विशेष धनवान गृहस्थ शिष्योंमेंसे एक प्रधान व्यक्ति थे। इनके अनेक सेवा-कार्योंमें से श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अविर्भाव स्थान श्रीधाम मायापुरके योगपीठमें इनके धन द्वारा निर्मित गगनभेदी विशाल मन्दिर आज भी इनकी भक्ति-कीर्त्ति की पताकाको लहरा रहा है। धन-धान्य, स्त्री-पुत्र और स्वजन आदि अनुकूल होते हुए भी इन सबका परित्याग कर वृद्धावस्थामें वृन्दावन स्थित इमलीतला नामक सिद्ध पीठमें धामवास करते हुए एकान्त दृढ़ निष्ठाके साथ भजनका उन्होंने एक महान् आदर्श स्थापित किया है। कुछ ही दिन पहले इन्होंने त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्-भक्ति सारंग गोस्वामी महाराजसे कौपीन ग्रहण कर बाबाजी वेशधारण किया था।

निर्याणके पश्चात् इनके सुयोग्य वैष्णव पुत्रोंने प्रवीण वैष्णवोंके आनुगत्यमें विराट संकीर्तनके मध्य श्रीवृन्दावन स्थित श्रीराधा-दामोदरजीके घेरेमें उनकी पुष्प समाधि दी है तथा श्रीव्रजमण्डलके समस्त गौड़ीय सारस्वत वैष्णवोंको विविध प्रकारके स्वादिष्ट महाप्रसादसे सेवाकी है। —निजस्व सम्वाददाता

भारत-परिक्रमा-संघका प्रत्यावर्तन

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति द्वारा आयोजित धाम-परिक्रमा-संघ भारतके तीन धामों, सप्त पुरियों एवं दूसरे-दूसरे लगभग पचास प्रसिद्ध तीर्थ-स्थानोंका दर्शन कर गत २ दिसम्बरको हावड़ा लौट आया है। प्रति वर्ष इसी समय कार्तिक मासमें नियम-सेवाके उपलक्ष्यमें समितिकी ओरसे धाम-परिक्रमा आदिकी व्यवस्था की जाती है। इसमें बहुतसे विद्वान साधु-सन्त और गृहस्थ पुरुष और महिलाएँ भी सम्मिलित होती हैं। इनदिनों भक्तिके यथासम्भव समस्त अङ्गोंका विधिवत पालन किया जाता है। संकीर्तन, प्रवचन, भाषण, श्रीविग्रहकी नित्य-सेवापूजा और भोग-राग—यह सब कुछ निर्बाध गतिसे चलता रहता है। इस वर्ष परिक्रमाका क्षेत्र बड़ा होनेके कारण परिक्रमाकी अवधि एक महिनेके बदले ढाई महीनेकी थी। ३० भाद्र, १६ सितम्बर, १९६१ को यह यात्रा हावड़ासे प्रारम्भ हुई थी। श्रीजगन्नाथपुरी, सिंहचलम, मद्रास, तांजौर, रामेश्वर, कन्याकुमारी, श्रीरंगम, कांची, तिरुपति, पंढरपुर, नासिक, बम्बई, द्वारका, डाकौरजी, उज्जैनी, नाथद्वारा, पुष्कर, जयपुर, आगरा, मथुरा, वृन्दावन, दिल्ली, हस्तिनापुर, कुरुक्षेत्र, हरिद्वार, अयोध्या, प्रयाग, वाराणसी और गया आदि प्रसिद्ध-प्रसिद्ध लगभग ५०-६० तीर्थ स्थानोंके दर्शन हुए हैं।

परिक्रमाका सविस्तार वर्णन अगले अङ्कमें देखिये। —प्रकाशक

श्रीगौड़ीय व्रतोपवास (पौष)

२६ केशव,	२ पौष,	१८ दिसम्बर,	सोमवार—	मोक्षदा एकादशीका उपवास।
२७ ,,	३ ,,	१९ ,,	मंगलवार—	प्रातः ७-१८ के पूर्व एकादशीका पारण।
५ नारायण	१० ,,	२६ ,,	,,	—जगद्गुरु श्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुरका तिरोभाव।
१२ ,,	१७ ,,	२ जनवरी,	,,	—सफला एकादशीका उपवास।
१३ ,,	१८ ,,	३ ,,		बुधवार—पूर्वाह्न ९-५४ के पूर्व एकादशीका पारण; श्रीदेवानन्द पण्डितका तिरोभाव।
१४ ,,	१९ ,,	४ ,,		वृहस्पतिवार—श्रीउद्धारणदत्त ठाकुरका तिरोभाव।
१९ ,,	२४ ,,	९ ,,		मंगलवार—श्रीजीवगोस्वामी एवं श्रीजगदीश पण्डितके तिरोभाव।
२४ ,,	२९ ,,	१४ ,,		रविवार—पौष-संक्रान्ति, गंगासागर-स्नान।